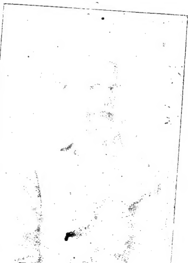
मृत्यु-रहस्य

पूर्व-भाग



ओ३म्

मृत्यु-रहस्य

(प्रारम्भिक भाग)

—○:०:○—

लेखक

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी महाराज।
प्रधान, अखिल भारतीय आर्यसार्वदेशिक सभा, और
प्रधान अखिल भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा।

प्रकाशकः—

श्री सत्येन्द्रनाथ द्वारा 'प्रभात पुस्तक भण्डार मेरठ'
के लिये प्रभात प्रेस मेरठ में मुद्रित
तथा प्रकाशित

सम्वत् १९८२ वै०

मूल्य १)

विषय सूची

	पहला अध्याय	पृष्ठ
	प्रथम परिच्छेद।	
(१)	प्रारम्भ	१
	दूसरा परिच्छेद।	
(२)	एक सत्संग की कथा	३
	तीसरा परिच्छेद।	
(३)	दूसरा संग	१
	चौथा परिच्छेद।	
(४)	स्वार्थ मीमांसा	२०
	पांचवां परिच्छेद	
(५)	सम्बन्ध का वास्तविक रूप	३०
	छठा परिच्छेद।	
(६)	मृत्यु का वास्तविक रूप	३३
	दूसरा अध्याय।	
	पहला परिच्छेद।	
(७)	मरने के बाद क्या होता है?	४५
	दूसरा परिच्छेद।	
(८)	मरने के बाद की पहिली गति	४८

कतिपय प्रारम्भिक शब्द।

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी की लेखनी से लिखा गया 'आत्मदर्शन' आर्यसमाज के साहित्य में ही नहीं किन्तु सारे आर्यभाषा के साहित्य में एक शानदार चमकता रत्न है। स्वामी जी महाराज ने और भी कई छोटी २ पुस्तकें लिखी हैं किन्तु दूसरी पुस्तक जो वैसी ही मौलिक और अपने विषय की सर्वथा अनूठी है—'हृदयरहस्य' है। मनुष्य के हृदय की गहराई तक जाने वाले जिन भावों को स्वामी जी ने सुन्दर रीति पर इस पुस्तक में अङ्कित किया है उस दृष्टि में यह पुस्तक सर्वथा अपूर्व है। दार्शनिक गम्भीर विषय होने पर भी पुस्तक इतनी सरस और रोचक है कि पाठक एकबार अपने को भूल जाता है।

पुस्तक का यह केवल प्रारम्भिक भाग है, एक साथ ही पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान होने के कारण उन के कार्य का अधिकांश भार पूज्य श्री नारायण स्वामी जी पर आ पड़ा है इसलिये उन के लिये कठिन होगया कि पुस्तक को पूरा कर सकें पर यह जितनी है उस में भी एक विषय पूरा होगया है इसलिये पाठकों की बढ़ती मांग देख कर इतना अंश ही प्रकाशित किया जाता है। यह भाग मासिक पत्र प्रभात में भी निकल चुका है।

इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि बहुत सी सन्तप्त आत्माओं को इस से शान्ति प्राप्त होगी।

मेरठ
२५। २। २७ } धर्मेन्द्रनाथ

ओ३म्

"मृत्यु रहस्य"

"पहला अध्याय"

प्रथम परिच्छेद

प्रारम्भ



गंगातट पर एक सुन्दर तपोभूमि है, वृक्षों की शीतल छाया है। हरी २ दूब से सारी भूमि लहलहा रही है, शीतल जल के सुहावने चश्मे जारीहैं, प्राणप्रद वायु मंदगतिसे बहरहा है, रंग विरंग के फूल खिल रहे हैं। फल वाले वृक्ष फलों से लदे हुवे हैं, तरह तरह के पक्षी इधर उधर चहचहा रहे हैं, निदान सारा वन प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर होकर भक्ति और वैराग्य का शिक्षणालय बना हुआ है, ऐसी पवित्र और पुण्य भूमि में एक ऋषि जिनका शुभ नाम "आत्मवेत्ता" ऋषि है, वास करते हुये तपोमय जीवन व्यतीत करते हैं-ऋषि आत्मज्ञानी हैं, आत्मस्थ हैं, वेदों का मर्म जानते हैं-उपनिषदों के रहस्यों की जानकारी रखते हैं और सदैव आत्मचिन्ता में निमग्न रहते हैं। अपना जीवन अपने ही उपकार में लगाने के अभ्यासी नहीं, अपितु परोपकार वृत्ति भी उनके हृदय में उच्च स्थान रखती है, और इसी वृत्ति को क्रियात्मक रूप देने के लिये सप्ताह में एक बार

सतसंग से लाभ उठाने का अवसर सर्वसाधारण को दिया करते हैं। सैकड़ों गृहस्थ, नरनारी, वानप्रस्थी और ब्रह्मचारी सत्संग से लाभ उठाने के लिये प्रतिसप्ताह उनकी सेवा में उपस्थित हुआ करते हैं। सत्संगों का कार्यक्रम यह होता था कि प्रथम जिन्हें कुछ पूछना या दुःख सुख कहना होता पूछते या कहते, ऋषि उनका उचित समाधान कर दिया करते थे और जब सत्संग में एकत्रित पुरुष कुछ पूछते नहीं किन्तु कुछ उपदेश ही सुनना चाहते तब उन्हें कुछ शिक्षाप्रद उपदेश ही कर दिया करते थे।



दूसरा परिच्छेद

"एक सत्संग की कथा"

—:o:—

जान्हवी तट पर ऋषि आत्मवेत्ता व्यासजी पर विराजमान हैं, और सैकड़ों नरनारी उनके संग से लाभ उठाने के लिये उनके सामने बैठे हैं। आज के संग में दुर्भाग्य से अनेक नरनारी ऐसे ही एकत्रित हैं जो दुःख से पीड़ित हैं और अपनी दुःखकथा सुना कर कर्तव्य की शिक्षा लेने की चिन्ता में हैं, ऋषि की आज्ञा पाकर उन्होंने अपने संतप्त हृदयों का गुब्बार निकालने के लिये अपनी दुःखकथा सुनानी प्रारम्भ की:—

रामदत्त:—महाराज! मेरा हृदय पुत्रशोक से व्याकुल हो रहा है, चालीस वर्ष की आयु तक हम स्त्री पुरुष संतान के मुंह देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सके थे। चालीस वर्ष की आयु होने पर एक पुत्र हुवा, वही एक मात्र, संन्तान थी। बड़े यत्न से उसे पाला पोसा, शिक्षा का प्रबन्ध किया। अब उसकी आयु १८ वर्ष की थी और बनारस विश्वविद्यालय में पढ़ता था, एफ० ए० की परीक्षा पास कर चुका था, बी० ए० के पहिले वर्ष में आया ही था कि अचानक प्लेग ने आकर घेर लिया। अनेक चिकित्सकों की, अनेक उपाय किये, परन्तु कुछ भी कारगर न हुवा, तीसरे दिन ही प्राण पखेरू अस्थिपंजर रूप पिंजड़े को छोड़ कर उड़ गये—मृत्यु के अन्यायी हाथों ने हम पर जरा भी दया नहीं की! इस बुढ़ापे में हमारे बुढ़ापे की

की लाठी, हमारे सर्वस्व का अपहरण करके हमको तड़फता ही छोड़ दिया, किसी प्रकार शैत्र का दाह कर्म किया, अब उसकी माता उसी दिन से जलहीन मीनकी तरह तड़फ रहीहै, न खाती है न पीती है, कभी २ बेहुश भी हो जाती है। इसी हालत में उन्हें छोड़ कर आया हूं कि आप से यह आपबीती कथा कहूं, आप अनुग्रह कर के बतलाइये कि क्या करें जिस से चित्त की व्याकुलता दूर हो और हम फिर शान्ति का मुंह देख सकें। (रामदत्त की कथा समाप्त ही हुई थी कि एक दूसरी ओर से एक स्त्री के रोने की आवाज़ आई। सब का ध्यान उधर हो गया और दयालु ऋषि ने सान्त्वना देकर उसका हाल पूछा)

कृष्णादेवी-(किसी प्रकार धैर्य धारण करके उसने अपना हाल सुनाना शुरु किया) मेरी आयु इस समय केवल ३० वर्ष की है, १२ वर्ष की आयु में विवाह हुआ था, २० वर्ष की नहीं होने पाई थी कि सास और ससुर दोनों का देहान्त हो गया। एक पुत्र हुआ था, ८ वर्ष का होकर वह भी चल बसा। उसके दुःख को हम भूले भी नहीं थे कि तीन दिन हुये जब स्वामी रोग ग्रस्त हुये, उन्हें ऐसा घातक ज्वर चढ़ा जिसने पीछा ही नहीं छोड़ा, उन्हें सन्निपात हुआ, बहकी २ बातें करने, शय्या छोड़ कर भागने, डाक्टरों ने देखा, हकीमों ने देखा, सभी ने कुछ न कुछ दवाइयां दीं, परन्तु फल कुछ न हुआ, कल प्रातःकाल मुझे रोने और वैधव्य जीवन का दुःख भोगने के लिये छोड़ कर चल दिये! अब मैं सारे घर में अकेली रह गई, क्या करूं, कहां जाऊं, कुछ ठीक नहीं,

ठिकाना नहीं, रह २ कर यही जो में आता है कि कुछ खाकर सो रहूं जिससे यह दुःख का जीवन समाप्त हो जावे; [कठिनता से कृष्णा इतना कहने पाई थी कि फिर आँखों से आंसुओं की धारा प्रवाहित हो गई और हिचकियों ने तांता बांध दिया, किसी प्रकार उसे लोग तसल्ली दे ही रहे थे कि एक ओर से फिर रोने का शब्द सुनाई दिया और सब उधर देखने लगे, देखा तो मालूम हुआ कि दो थोड़ी २ आयु के भाई और बहिन रो रहे हैं। कुछ सज्जनों ने उन बालकों को प्रेम से उठा कर ऋषि के सामने बिठलाया और पूछने पर उन्होंने अपना हाल इस प्रकार सुनाया:—

कृष्णकान्त और सुभद्रा—अभी हम दोनों अपनी अपनी शालाओं में शिक्षा पाते हैं और प्रारम्भिक श्रेणियों में ही हैं। हमारे माता और पिता जो हमारी बड़े प्रेम से पालना करते थे कल अचानक विसूचिका ग्रस्त हुये और दोनों का एक ही दिन में सफाया हो गया, पड़ोसियों की सहायता से उनकी अन्त्येष्टि की, अब हम दोनों अनाथ हैं, कोई रक्षा करने वाला नहीं, कोई नहीं जो दुःख सुख में हमारी सुधले। ये बालक इतना ही कह चुके थे कि फिर रोने लगे। उन्हें ऋषि ने ढाढ़स बंधाया और पीठपर प्रेम से थपकी दी और वचन दिया कि तुम्हारी शिक्षा और रक्षा का प्रबन्ध हो जायगा घबराओ मत। इसी बीच में एक और व्यक्ति आगे बढ़ा और नम्रता से निवेदन किया कि मुझे भी कुछ कहना है-आज्ञा पाकर उसने कहना आरम्भ किया:—

जयसिंह—मैं अत्यन्त सुखी गृहस्थ था मेरे दो पुत्र और एक पुत्री है, तीनों सुशील आज्ञाकारी और शिक्षा के प्रेमी हैं—भिन्न २ शिक्षालयों में शिक्षा पाते हैं, मेरी पत्नी बड़ी विदुषी थी और गृहस्थ कार्य में बड़ी चतुर थी, मुझे जब बाहर यात्रा में अथवा कहीं और कुछ काम होता तो मैं सदैव शीघ्र से शीघ्र घर आने का यत्न किया करता था, मेरा विश्वास और दृढ़ विश्वास था कि ज्योंही मैं घर पहुँचूंगा गृहपत्नी की मधुर वाणी सुनने और सुप्रबन्ध देखने से सारे कष्ट दूर हो जावेंगे और वास्तव में ऐसा होता भी था, इस प्रकार मैं समझा करता था कि मुझ से बढ़कर कोई दूसरा सुखी गृहस्थ न होगा, पर दुर्भाग्य से वह देवी मुझ से वियुक्त हो गई। कुछ दिनों साधारण ज्वर आया था, इसी बीच में चौथे बालक का जन्म हुवा परन्तु ज्वर ने उसका पीछा न छोड़ा, अभी बालक तीन महीनेका भी पूरा नहीं होने पाया था कि उसी ज्वर ने इतना विकराल रूप धारण किया कि गृहलक्ष्मी के प्राण लेकर ही पीछा छोड़ा, अब गृहदेवी के वियोग ने मुझे पागल सा बना रखा है, जहां एक ओर गृहस्थ जीवन मिट्टी में मिला दिखाई देता है तो दूसरी ओर तीन मास के बालक की रक्षा के विचार से मैं घुलाजा रहा हूं। चित को बहुतेरा समझाता हूं कि संतान है, धनहै, बड़ा परिवार है, जिमींदारी है, इलाक़ाहै, सब कुछहै, सावधानीसे रहना चाहिये, परन्तु ज्योंही विमुक्तदेवी का स्मरण आता है सारे विचारों पर पानी फिर जाता है और कोई वस्तु भी शान्ति देने में समर्थ नहीं होती, और जब यत्न करता हूं कि उसका स्मरण

ही न आवे तो इसमें सफलता नहीं होती। स्मरण आता है और फिर आता है, रोकने से स्मृति और भी अधिक वेगवती हो जाती है, यह दुःख है जिससे मैं सन्तप्त हूं और यह संताप उठते बैठते, सोते, जागते, खाते पीते, सभी समयों में मुझे दुःखी बना देता है, मैं क्या करूं जिससे इस दुःख से निवृत्ति हो।

सन्तोष कुमार" (इसी बीच में बोल उठा) बड़ी २ मिन्नतों के मानने से तो इस ६० वर्ष की आयु में पौत्र का मुंह देखा था परन्तु वह सुख तीनमास भी रहने नहीं पाया था कि पौत्र ने धोखा दिया और सारे परिवार को क्लेशित करके चल दिया, यह दुःख है कि दूर होने में नहीं आता, हृदय में एक आग सी लग रही है, जिससे मैं जल भुन रहा हूं, शान्ति का कोसों पता नहीं।

राधाबाई—(१३ वर्ष के आयु की एक बाल विधवा रोतीहुई) निर्दयी माता पिताने तीन वर्ष हुये जब मैं अबोध बालिका थी,सुबोध तो अबभी नहीं हूं, मेरा विवाह हत्यारे धनके प्रलोभन में पड़कर एक ६० वर्ष के बूढ़े से कर दिया था जिसे देख कर सब उसे मेरा दादा ही समझते थे, वो वर्ष तो वह चारपाई पर पड़े २ कों २ करते हुये किसी तरह जीता रहा, थोड़ा दूर भी यदि चलना पड़ता तो लाठी टेक कर चलने पर भी हांफने लगता, मुंह में दांत न थे, बात करते समय साफ़ बोल भी नहीं सकता था, वह हालत उसकी पीछे से नहीं हो गई थी किन्तु विवाह के समय भी उसकी यही

हाल था। अब सप्ताह हुआ जब वह मर गया, उसके मरने का तो मुझे कुछ भी दुःख नहीं हुआ था, परन्तु अब इधर उधर से नातेदार पुरुष स्त्रियां एकत्र हुये और उन्होंने मेरी अच्छी २ चूड़ियां, मेरे मना करने पर भी तोड़ दीं, मेरे अच्छे वस्त्र और ज़ेवर भी उतार लिये और सुन्दर बंधे हुवे बालों को भी खोल कर बखेर दिये और कहा कि तूने आते ही अपने पति को खा लिया और अब तू विधवा है, इसी अवस्था में तुझको सारी आयु व्यतीत करनी पड़ेगी, तब से मेरे दुःख का वारापार नहीं। यही एक आपत्ति नहीं किन्तु और भी अनेक दुःख हैं, कभी कोई दुष्ट स्त्री आकर मेरा धन अपहरने के लिये तरह २ की चिकनी चुपड़ी बातें बनाती हैं। कभी कोई दुष्ट पुरुष आकर मुझे कहता है कि विधवाओं को चारों धाम में जाकर तीर्थ का पुण्य प्राप्त करना चाहिये, यदि तू चले तो मैं तेरे साथ चल सकता हूं, कभी कोई दुष्ट विधर्मी साधु के रूप में आकर मुझे फुसलाने का यत्न करता और कहता है कि यदि तू हिन्दूमत छोड़दे तो तेरा निकाह अच्छे आदमी के साथ हो सकता है, कभी कोई विषयी आकर मेरे सतीत्व के नष्ट करने की चेष्टा करता है, इन और इसी प्रकार की अनेक आपत्तियों का मुझे प्रतिदिन सामना करना पड़ता है, इन आपत्तियों में फंस कर मैं अत्यन्त दुःखित और पीड़ित हो रही हूं। रह २ कर अपनी अवस्था पर रोना आता है (राधा इतना ही कह चुकी थी कि फिर रोने लगी, इसी बीच में एक और आदमी आया और अपनी कहानी सुनाने लगा)

सीतला- (एक दलित जाति का पुरुष) अब की बार महाराज ! हमारे गांवों में चेचक भयंकर रूप से फैली, सैकड़ों बालकों के सिवाय अच्छे २ जवान स्त्री पुरुष भी उसकी भेंट हो गये, किसी २ को, बूढ़े भी भी माता (चेचक) ने आकर मौत का सन्देश सुनाया। मेरे घर में भी चेचक का प्रकोप हुआ और दो प्राणी उसकी भेंट हुये, एक तो छोटी लड़की थी और दूसरा जवान लड़का था। इस भयंकर मौतों ने घर में कुहराम मचा दिया। किसी को भी अपनी सुध बुध नहीं रही। आस पास के लोगों के कहने, सुनने, समझाने, बुझाने से मैंने जी कड़ा किया और अपने को संभाल कर उनको स्मशान में लेजाकर अन्त्येष्टि करने की तय्यारी करने लगा। अपने छोटे भाईको बाज़ार भेजा कि जाकर अर्थी और कफ़न के लिये बांस और कपड़ा आदि ले आवे, इस पर जो कुछ बीती वह आपको सुनाता हूं:—

सावन्ता- (सीतला का छोटा भाई बाज़ार जाते हुये सीतला से बोला) मैं बाज़ार जाता हूं, तुम ईंधन को स्मशान में भिजवाने का प्रबन्ध करो (यह कह कर सावन्ता चल दिया, अभी रास्ता चलना शुरु ही किया था कि एक आदमी आकर डपट कर बोला)

सुब्राह्मणअय्यर (एक ऊंची जाति का ब्राह्मण) : (ज़ोरसे) अरे, तू तो पञ्चम है तो इस ब्राह्मणों के रास्ते पर कैसे आया ?

सावन्ता- मेरे घर में दो मौतें होगई हैं, मुझे कफ़न के लिये कपड़ा ले आने की जल्दी है, इसलिये आप कृपा करके

सुब्राह्मणअय्यर-दो मौतें क्या तेरा सारा भी घर मर जावे तब भी तू इस रास्ते से नहीं जा सका, क्या तेरे मुर्दों के कारण हम सब अपना प्रायश्चित करेंगे ?

सावन्ता- आप मेरे मुर्दों के कारण क्यों प्रायश्चित्त करेंगे।

सुब्राह्मणअय्यर- तेरे इस रास्ते पर चलने से यह मार्ग अपवित्र हो जायगा और इस पर जितने भी उच्च जाति के लोग चलेंगे उन्हें सभी को शास्त्र की रीति से प्रायश्चित्त करना पड़ेगा,(सावन्ता उसी मार्ग से कुछ आगे बढ़ा ही था कि अय्यर ने खींचकर एक लकड़ी उसके सिर पर मारी, जिससे उसका सिर फट गया और खून बहने लगा। सावन्ता इसी बुरी हालत में कुछेक राहगीरों की सहायता से बिना कपड़ा लिये लौट आया और उसे इस हालत में देख कर आश्चर्य्य से लोगों ने सब हाल पूछा और उसकी दुःख की कहानी सुन वहां एकत्रित सभी पंचम अपने हिन्दू होने से घृणा करने लगे।

सीतला (उपर्युक्त आपत्ति की दास्तान सुनाकर सीतला ने कहा) महाराज ! एक दुःख तो घरमें दो मरे हुओं का था ही, वही हमारे रोने के लिये कम न था,अब तीसरी मुसीबत यहकि भाई के ज़ख़्मी होने की हमारे सिर पर और आगई, उसकी मरहम पट्टी कराने के लिये जब कोई डाक्टर (उच्च जाति का-होने के कारण) नहीं आया तो हमी सबने अपनी ग्रामीण बुद्धि (जानकारी) के अनुसार मरहम पट्टी कर दी और उसे उसी सिसकती हुई हालत में छोड़कर स्मशान की ओर चले गये

और दाह कर्म करके लौटने भी न पाये थे कि रास्ते में दौड़ती और हांफती हुई स्त्री ने आकर ख़बर दी कि उस ज़ख़मी भाई की भी मृत्यु हो गई, हम अभागे अब उसी अपने प्यारे और एक मात्र भाई का दाह कर्म करके आ रहे हैं, घर में घुसने को जी नहीं चाहता, घर काटने को दौड़ता सा दिखाई देता है, इसीलिये महाराज घर न जाकर आपकी शरण में आया हूं। (आत्मवेत्ता ऋषि ने उसकी दुःखित अवस्था और उच्च जाति के हिन्दुओं का दलितों के साथ दुर्व्यवहार का स्मरण करते और दुःखित होते हुये सीतला को सान्त्वना देते हुये प्रेम से बिठलाया:—

इसके बाद भी सत्संग में एकत्रित पुरुष स्त्रियों में से किसी ने अपनी सम्पत्ति खोये जाने की कथा सुनाई, किसीने अभियोग में हार जाने की चर्चा की, जिसके परिणाममें अपना दरिद्र हो जाना वर्णन किया, किसी ने बन्धु बान्धवों के दुर्व्यवहार की शिकायत की; निदान इसी प्रकार के कथनोपकथन में संग का नियत समय समाप्त होगया, ऋषिके वचन सुनने का अवसर किसी को न मिला और क्रियात्मक रूप से आज का संग "मरसिया ख्वानों की मजलिस" ही बना रहा। आत्मवेत्ता ऋषि ने अगले संग में उपदेश देने का वचन देकर आज के संग का कार्य समाप्त करते हुये, संग में उपस्थित नर नारियों को इस प्रकार का आदेश दिया:—

आत्मवेत्ता—बड़े से बड़े दुःख, बड़ी से बड़ी मुसीबतों के कष्ट, करुणानिधान, करुणाकर, करुणामय प्रभु के स्मरण से कम होते और जाते रहते हैं। वही असहायों का

सहाय, निराश्रितों का आश्रय, निराबलम्बों का अवलम्बन है। दुनियां के बड़े२ वैद्य, डाक्टर, राजा महाराजा और साहूकार प्रसन्न होने पर केवल शारीरिक कल्याण का कारण बन सकते हैं परन्तु मानसिक व्यथा से व्यथित नर नारी के शान्ति का कारण तो वही प्रभु है, जो इस हृदय मन्दिर में बिराजमान है और दुनियां के लोगों की तरह उसका सम्बन्ध मनुष्यों से केवल शारीरिक नहीं किन्तु मानसिक और आत्मिक भी है, नहीं है, जो गर्भ में जीवों की रक्षा करता है वही है जो वहाँ कीट पतंगों तक की भी, रक्षा करता है, जहां मनुष्यों की बुद्धि भी नहीं पहुंच सकती, एक पहाड़ का भाग सुरंग से उड़ाया जाता है, पहाड़ के टुकड़े २ होजाते हैं, एक टुकड़े के भीतर देखते हैं कि एक तुच्छ कीट है, जिसके पास कुछ दाने अन्न के भी पड़े हैं, बुद्धि चकित होजाती है, तर्क काम नहीं देता, मन के संकल्प-विकल्प थक जाते हैं, यह कैसा चमत्कार है, हम स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं ? भला इस कठोर हृदय पत्थर के भीतर यह कीट पहुंचा तो पहुंचा कैसे? और उसको वहाँ यह दाने मिले तो कैसे मिले? कुछ समझ में नहीं आता, मनुष्य के जब अन्तःकरण थक जाते हैं और काम नहीं करते तो वह आश्चर्य के समुद्र में डुबकियाँ लेने लगता है, अन्त में तर्क और बुद्धि का हथियार डाल कर मनुष्य बेसुध सा हो जाता है। अनायास उसका हृदय श्रद्धा और प्रेम से पूरित हो गया, ईश्वर की इस महिमा के सामने शिर झुक पड़ा और हृदय से एक साथ निकल पड़ा कि प्रभु! आप विचित्र हो आप के कार्य भी विचित्र हैं!

आप की महिमा समझने में बुद्धि निकम्मी और मन निकम्मा बन रहा है आप ही अन्तिम ध्येय और आश्रय हो आपके ही आश्रय होने से दुःख, दुःख नहीं रहते। कष्ट, कष्ट नहीं प्रतीत होते। आपके ही आश्रय में आने से संग के इन नर नारियों के भी कष्ट दूर होंगे:—

(आत्मवेत्ता इतना ही कहने पाये थे कि संघ में से एक भक्त का हृदय गद्गद् हो गया आंखों से प्रेम के आंसू बहने लगे, प्रेम में मग्न होकर अत्यन्त मधुर स्वर से, हृदय के भीतरी तह में निहित भावों को, गाकर प्रकट करने लगा, और संग में उपस्थित समस्त नर नारी कुछ इस प्रकार से मग्न हो गये कि प्रत्येक को अपना दुःख कम होता दिखाई देने लगा):—

श्लोक

एक भक्तः— त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं,
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत् कर्तृ, पातृ प्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥

भजन

पितु मात सहायक स्वामि सखा, तुमहीं एक नाथ, हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नहीं, तिनके तुमहीं रखवारे हो॥

प्रतिपाल करो सिगरे जग को,
अतिशय करुणा उर धारे हो।
भुलि हैं हम ही तुम को तुम तो,
हमरी सुधि नांहि बिसारे हो॥
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो विस्तारे हो।
महाराज महा महिमा तुम्हरी समझे बिरले, बुध बारे हो॥
शुभ शान्ति निकेतन प्रेम निधे,
मन मन्दिर के उजियारे हो।
यहि जीवन के तुम जीवन हो,
इन प्राणन के तुम प्यारे हो॥
तुम सो प्रभु पाय 'प्रताप', हरि कहि के अब और सहारे हो।



दूसरा संघ

संघ के संगठित हो जाने पर सभी नर नारी ऋषि वचन सुनने के जिज्ञासु हुये तब आत्मवेत्ता ऋषि ने प्रतिज्ञानुसार उपदेश प्रारंभ किया:—

जगत् स्वार्थ मय है] आत्म वेत्ता ऋषि— जगत् में प्राणियों के वियुक्त होने पर जो दुःख अवशिष्ट परिवार को हुआ करता है, उसका हेतु यह नहीं होता कि वियुक्त प्राणी उन्हें बहुत प्रिय था बल्कि असली कारण यह होता है कि वियुक्त प्राणियों के साथ, अवशिष्ट परिवार के स्वार्थ, जुड़े थे, और वियोग स्वार्थ सिद्धि में बाधक होता है, बस असली दुःख इतना ही होता है कि स्वार्थ हानि हुई, जिसे पुत्र का शोक है वह केवल इस लिये कि उसने पुत्र को बुढ़ापे की लाठी समझ रक्खा था। पुत्र क्या मरा मानो उसके बुढ़ापे की लाठी छिन गई अब चिन्ता केवल इस बात की है कि बुढ़ापे में सहारा कौन देगा। जिसे माता पिता का दुःख है वह भी अपने ही स्वार्थ के लिये कि अब उसका पालन पोषण कौन करेगा। जिसे स्त्री का दुःख है वह भी केवल अपने ही स्वार्थ के लिये कि जो सुख स्त्री से मिला करता था वह अब नहीं मिलेगा। अतः यह स्पष्ट है कि जिसे मृत्यु का शोक कहते हैं वह शोक असल में बन्धु बान्धवों के लिये नहीं किन्तु अपने ही स्वार्थ में बाधा पहुंचने से किया जाता है।

याज्ञवल्क्य का उपदेश] याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रयी को यही उपदेश कितने सुन्दर शब्दों में दिया था:—

नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति,
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ॥१॥
नवा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति,
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ॥२॥
नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति ॥३॥
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ॥४॥
नवा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति ॥५॥
नवा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति ॥६॥
नवा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति ॥७॥
नवा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति ॥८॥
नवा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति,
आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति ॥९॥
नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥१०॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।६)

"याज्ञवल्क्य"—अरे मैत्रेयि ! निश्चय पति की कामना के लिये पत्नी को पति प्रिय नहीं होता किन्तु अपनी कामना के लिये पति प्रिय होता है ॥१॥ निश्चय भार्या की कामना के लिये पति को भार्या प्रिय नहीं होती किन्तु अपनी कामना के लिये ही भार्या प्रिया होती है ॥२॥

निश्चय पुत्रों की कामना के लिये (माता पिता को) पुत्र प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिये ही पुत्र प्रिय होते हैं ॥३॥

निश्चय धन की कामना के लिये (मनुष्य को) धन प्रिय नहीं होता किन्तु अपनी कामना के लिये धन प्रिय होता है ॥४॥

निश्चय ब्राह्मण की कामना के लिये (मनुष्य को) ब्राह्मण प्रिय नहीं है, किन्तु अपनी कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है ॥५॥

निश्चय क्षत्री की कामना के लिये (मनुष्य को) क्षत्रिय प्रिय नहीं होता किन्तु अपनी कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है ॥६॥

निश्चय लोकों की कामना के लिये (मनुष्य को) लोक प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिये ही लोक प्रिय होते हैं ॥७॥

निश्चय देवों की कामना के लिये (मनुष्य को) देव प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिये देव (विद्वान्) प्रिय होते हैं ॥८॥

निश्चय भूतों (प्राणी-अप्राणी) की कामना के लिये (मनुष्य को) भूत प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिये ही भूत प्रिय होते हैं ॥६॥

निश्चय सब की कामना के लिये (मनुष्य को) सब प्रिय नहीं होते किन्तु अपनी कामना के लिये ही सब कुछ प्रिय होते हैं ॥१०॥

मृत्यु का दुख:] आत्मवेत्ता—इस सम्पूर्ण उपदेश का सार यही है कि समस्त प्राणी और अप्राणी केवल अपनी ही कामना के लिये मनुष्यको प्रिय होतेहैं।यदि मनुष्यमें किसी प्रकार से यह योग्यता आजाये कि वह अपने सम्बन्धियों, स्त्री पुत्रादि के साथ जो उसने स्वार्थ कामना जोड़ी हुई है उसे पृथक् कर लेवे तो क्या उस समय भी मनुष्य को किसी की मृत्यु का दुख हो सकता है? इसका निश्चित उत्तर यह है कि फिर दुःख कैसा? दुःख तो सारा स्वार्थ हानि ही का होता है-यदि वियुक्त और अवशिष्ट दोनों के बीच में स्वार्थ का सम्बन्ध न होतो फिर किसी को मृत्यु क्लेशित नहीं कर सकती। जगत्में प्रतिदिन सहस्रों मनुष्य उत्पन्नहोते और मरते हैं। परन्तु हमें न उनके पैदा होने का हर्ष होता और न उनके मरने का शोक। क्यों हर्ष और शोक नहीं होता? कारण स्पष्ट है कि उनकी उत्पत्ति के साथ हम स्वार्थ वा सम्बन्ध नहीं जोड़ते इस लिये उनके जन्म का हमें कुछ भी हर्ष नहीं होता और चूंकि उनके जीवनों के साथ हमारा स्वार्थ भी जुड़ा हुवा नहीं होता इस लिये उनके जीवनों की समाप्ति (मृत्यु) का भी हमें कुछ शोक नहीं होता। न्यूयार्क, लण्डन, पैरिस आदि नगरों में प्रति दिन सैकड़ों मनुष्य मरा करते हैं क्यों हम उनका मातम नहीं करते? केवल इसी लिये कि उनसे हमारे स्वार्थ का कुछ भी

सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु न्यूयार्क आदि नगरों में सैकड़ों मनुष्य होंगे जो उनके मरने का शोक करते होंगे। क्यों शोक करते हैं? इस लिये कि उनका स्वार्थ उन मरने वालों के साथ जुड़ा हुवा होता है। निष्कर्ष यह है कि मृत्यु शोक का कारण स्वार्थ और एक मात्र स्वार्थ है-इस लिये स्वार्थ क्या है इस पर थोड़ा विचार करना होगाः—



"स्वार्थ-मीमांसा"

आत्मवेत्ता-स्वार्थ का तात्पर्य है (स्व+अर्थ) अपनी कामना, अपनी गरज-"स्व" (Self) और आत्मा पर्याय वाचक है-दोनों का एक ही अर्थ है इसलिये "अपना अर्थ" या "अपनी आत्मा का अर्थ", इनमें कुछ अन्तर नहीं है यह दोनों समानार्थक पद हैं।

स्वार्थ तीन प्रकार का है:—

स्वार्थ के भेद] (१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) निकृष्ट। उत्कृष्ट स्वार्थ वह है जिसमें आत्मा स्वस्वरूप में रहकर अपने अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है-(२) मध्यम स्वार्थ वह है जिसमें आत्मा मन और इन्द्रिय से युक्त होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है (३) निकृष्ट स्वार्थ है वह जिसमें आत्मा मन और इन्द्रिय से युक्त होकर ममता के वशीभूत होकर सम्मिलित अर्थ की सिद्धि करता है। यही निकृष्ट स्वार्थ है जिससे मनुष्य को मृत्यु के दुःख से दुःखी होना पड़ता है। प्रत्येक प्रकार का स्वार्थ ठीक २ समझा जा सके इसलिये उसका कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है:—

उन भेदों का व्याख्यान] आत्मा की दो प्रकार की वृत्ति होती हैं एक का नाम है अन्तर्मुखी वृत्ति दूसरे को बहिर्मुख वृत्ति कहते हैं। अन्तर्मुख वृत्ति का भाव यह है कि आत्मा केवल, आत्मा+परमात्मानुभव में रतहो इसीको निदिध्यासन

(Realization) कहते हैं। इसी का नाम श्रेय या निवृत्ति-मार्ग है। परन्तु जब आत्मा अपने भीतर नहीं किन्तु बाहर काम करता है तब बहिर्मुखवृत्ति वाला कहलाता है। उसका क्रम यह है कि आत्मा बुद्धि को प्रेरणा करता है, बुद्धि मन को, मन ज्ञानेन्द्रियों को गति देता है; इन्द्रियां विषय में प्रवृत्त हो जाती हैं इसी को श्रवण और मनन कहते हैं, इसी का नाम प्रेय या प्रवृत्ति मार्ग है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग] मनुष्य के लिये इन दोनों मार्गों की उपयोगिता है। यदि यह दोनों मार्ग ठीक रीति से काम में लाये जावें तो प्रवृत्ति मार्ग निवृत्ति का साधक होता है। उपनिषदों में जहाँ प्रवृत्ति मार्ग की निन्दा की गई है उस का भाव केवल यह है कि जो मनुष्य केवल प्रवृत्ति मार्ग को ही अपना उद्देश्य बना कर निवृत्ति मार्ग की अवहेलना करते हैं वे ही उपनिषदों की शिक्षानुसार तिरस्कार के योग्य होते हैं। इस बात को उपनिषदों ने असंदिग्ध शब्दों में कहा है देखो:—

न साम्परायः प्रतिभाति बालम्प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(कठोपनिषद् २।६)

अर्थात् अज्ञानी पुरुषों को जो प्रमादग्रस्त और धन के मोह से मूढ़ हो रहे हैं परलोक की बात पसन्द नहीं आती। ऐसे पुरुष जो केवल इसी लोक को मानने वाले (प्रवृत्ति मार्गगामी) हैं और परलोक (निवृत्ति मार्ग) को नहीं मानते, उन्हें बार २ मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। परलोक का विचार

छोड़ जो केवल इसी लोक को अपनी सब कुछ समझने लगते हैं, उन्हें सांसारिक मोह जकड़ लेता है, और मोहग्रस्त हो कर उन्हें अपने उद्देश्य से भी पतित हो जाना पड़ता है। इस विषय में एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका नारद की है:—

नारद की एक आख्यायिका] एक बार नारद ने कृष्ण महाराज की सेवा में उपस्थित होकर उनसे आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहा। महाराज ने उन्हें अधिकारी नहीं समझा और इसी लिये उन्हें आत्मोपदेश नहीं किया दूसरे अवसर पर आकर नारद ने फिर वही प्रश्न किया। महाराज ने उत्तर न देकर नारद से कहा कि चलो कहीं भ्रमण कर आवें। नारद प्रसन्नता से रज़ामंद हो गया और इस प्रकार दोनों चल दिये। कुछ दूर पहुँच कर एक ग्राम दिखाई दिया। कृष्ण ने नारद से कहा कि जाओ इस ग्राम से पीने को पानी ले आओ। नारद चले गये। एक कुएँ पर पहुंचे जहाँ कुछ स्त्रियां पानी भर रहीं थी। उनमें एक अति रूपवती सुशीला कन्या भी थी नारद ने उस से जल मांगा, उसने बड़ी प्रसन्नता से नारद को जल दिया परन्तु नारद जल लेकर वहां से चले नहीं और जब वह कन्या जल लेकर अपने घर की ओर चली तो उसके पीछे हो लिये। कन्या ने घर पहुँच कर अपने पीछे नारद को आता देख कर समझा कि यह ब्रह्मचारी भूखा प्रतीत होता है, उसने आदर से नारद को बिठला कर भोजन कराया, परन्तु नारद भोजन करके भी वहां से नहीं टले। इसी बीच में कन्या का पिता जो कहीं बाहर गया हुआ था घर आया और उसको नारद से भेंट हुई। जब बातें-ढंग की होने लगी, तब

नारदने सुअवसर समझ कर कन्या के पिता से कहा, कि इस कन्या का विवाह मेरे साथ कर दो। कन्या के पिता ने योग्य वर समझ कर विवाह कर दिया। उस कन्या के सिवा घर में और कोई बालक या स्त्री नहीं थी, इस लिये कन्या के पिता ने नारद से कहा कि यहीं रहो। नारद उसी घरमें प्रसन्नतासे रहने लगे कुछ काल के बाद पिता का देहान्त होगया, अब वह युगल उस घरमें मालिकके तौर पर रहने लगे। गृहस्थधर्म का पालन करते हुवे नारद के होते होते तीन पुत्र हो गये । इसी बीच में वर्षा अधिक होने से बाढ़ आ गई और पानी गांव में भी आ गया और ग्राम निवासी अपने २ घर छोड़ कर जिधर तिधर जाने लगे। नारद को भी कहीं चलने की चिन्ता हुई और उन्होंने अपने छोटे दो बच्चों को कन्धों पर बिठला कर एक बड़े पुत्र को एक हाथ से पकड़ा और दूसरे हाथ से स्त्री का हाथ पकड़ कर पानी में चल दिये। पानी का ज़ोर था पुत्र अपने को सम्भाल नहीं सका, उसका हाथ नारद के हाथ से छूट गया और वह पानी में बह गया। नारद अपनी विवशता देख कर किसी प्रकार सन्तोष करके आगे चल दिये कि पानी ने फिर ढकेला और नारद गिरने को हुवे परन्तु किसी तरह से उन्होंने अपने को तो सम्भाला परन्तु इस संघर्ष में उनके कन्धों से बाकी दोनों पुत्र भी पानी में गिर कर बह गये।

अब इनके साथ केवल उनकी स्त्री रह गई। नारद को उन पुत्रों के बहने का दुःख तो बहुत हुवा परन्तु किसी प्रकार अपनी स्त्री और अपने जी को समझा कर चल दिये कि स्त्री

तो मौजूद ही है और भी पुत्र हो जावेंगे। जब वे दोनों दुःखित युगल इस प्रकार जा रहे थे कि पानी की एक प्रबल भरोरे ने स्त्री को भी बहा दिया। नारद बहुत हस्थ पांव मार कर किसी प्रकार पानी से निकल कर उसी स्थान पर पहुंचे जहाँ से कृष्ण महाराज के लिए पानी लेने ग्राम को चले थे, तब उनका माथा मोह छूटा और वह वहीं पश्चाताप करने लगे कि मैं ग्राम में किस कामके लिये गया था और वहां जाकर किस जंजाल में फंस गया। परन्तु " अब पछताये का होत है, चिड़िया चुग गई खेत "।

आख्यायिका कितनी अच्छी शिक्षा देती है कि मनुष्य जब उद्देश्य को भुला कर संसार के माया मोह में फंस जाता है तब उसकी ऐसी ही दुर्दशा होती है जैसी नारद की हुई। इस लिये उपनिषद् ने शिक्षा यह दी है कि मनुष्य को श्रेय मार्ग को भुला कर, केवल प्रवृत्तिमार्ग को अपना उद्देश्य नहीं बना लेना चाहिये। किन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को उनका उचित स्थान देना चाहिये तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

इस पर कोई कह सकता है कि उपनिषदों ने जिस प्रकार प्रवृत्ति की निन्दा की है उसी प्रकार से निवृत्ति की निन्दा क्यों नहीं की? इसका समाधान यह है कि मनुष्य प्रवृत्ति में तो उत्पन्न ही होता है वह उसे अनायास सिद्ध होती है। परन्तु निवृत्ति मार्ग यत्नाभाव से प्राप्त ही नहीं हो सकता। कोई मनुष्य सीधा निवृत्ति में नहीं आ सकता उसे सदैव प्रवृत्ति से ही निवृत्ति में आना पड़ता है। जब कोई प्रारंभ से

निवृत्तिपथगामी हो ही नहीं सकता तो फिर केवल निवृत्ति पथ के लिए उपनिषदों को कुछ कहने की आवश्यकता ही क्या हो सकती थी।

सन्तोष कुमार-फिर क्यों यम ने नचिकेता से कहा कि "विद्याभीप्सिनं नचिकेतं मन्ये" अर्थात् मैं नचिकेता को श्रेय (निवृत्त) पथ गामी मानता हूं!

आत्मवेत्ता—इसका भाव यह है कि यम ने नचिकेता को समझा कि वह श्रेयमार्ग का निरादर नहीं करता किन्तु उसे मुख्य समझ कर प्रवृत्ति मार्ग से जिस में नचिकेता था ही, निवृत्ति मार्ग में जाने का इच्छुक है।

आत्मवेत्ताऋषि—(फिर अपना व्याख्यान प्रारंभ करके बोले) निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग को ठीक समझाने के लिये अवस्थाओं का ज्ञान होना आवश्यक है जिनका विशेष वर्णन तो उपयुक्त स्थान पर किया जायगा परन्तु उसका बहुत स्थूल वर्णन यहां दिया जाता है:—

अवस्थायें] अवस्थायें तीन हैं (१) जाग्रत (२) स्वप्न (३) सुषुप्त। इनमें से जब मन और इन्द्रिय दोनों अपने २ काम से अपना २ काम करते हैं, तब उसे जाग्रतावस्था कहते हैं। परन्तु जब इन्द्रियों का काम बन्द होकर केवल मन का काम जारी रहता है तब उसे स्वप्नावस्था कहते हैं, और जब केवल आत्मा अपने ही भीतर काम करता है, और मन का काम भी बंद हो जाता है, तब उस अवस्था को सुषुप्त कहते हैं। निवृत्ति प्रवृत्ति मार्गों और उनके साथ ही जाग्रत, स्वप्नादि

अवस्थाओं पर विचार करने से स्वार्थ के भेदों का कुछ रूप समझ में आता है जब जागृत में सुषुप्तावस्था की सी अवस्था हो जावे अर्थात् मन और इन्द्रिय बिलकुल निष्क्रिय हो जावें तब यह स्वार्थ का उत्कृष्ट रूप होता है परन्तु जब मन और इन्द्रिय दोनों या केवल मन काम करे परन्तु ममता के वश में न हो तो यह स्वार्थ का मध्यम रूप होता है। स्वार्थ का निकृष्ट रूप समझने के लिये ममता का ज्ञान होना चाहिये—

ममता क्या है] वेद और उपनिषद् की शिक्षा यह है कि मनुष्य संसार की प्रत्येक वस्तु को ईश्वर प्रदत्त समझ कर प्रयोग में लावे,* इसका फल यह होता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु के लिये मनुष्य की भावना यह होती है कि वह उसकी नहीं है-किन्तु ईश्वर की है और प्रयोग और केवल प्रयोग के लिये उसे मिली हुई है; और इस अवस्था में स्वामी का अधिकार है कि अपनी वस्तु जब चाहे ले ले। प्रयोक्ता को उसके देने में "किन्तुपरन्तु" करने की गुंजाइश नहीं रहती। उदाहरण के लिये कल्पना करो कि रामदत्त का एक पुस्तक है और उसने पढ़ने के लिये सन्तोषकुमार को दिया। सन्तोषकुमार उस पुस्तक को पढ़ता है वह पुस्तक उसे बहुत रुचिकर मालूम देती है। और उसका जी नहीं चाहता कि समाप्त करने से पहले छोड़े। परन्तु पुस्तक के समाप्त होने से पहले पुस्तक के स्वामी रामदत्त को उसकी जरूरत पड़ी और रामदत्त ने पुस्तक सन्तोषकुमार से मांगी। अब बतलाओ कि

* तेन त्यक्तेन भुंजीथा! यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १

सन्तोषकुमार का क्या कर्तव्य है। उसे वह पुस्तक रामदत्त को दे देनी चाहिये या नहीं ?

जयसिंह—अवश्य दे देनी चाहिये,

कृष्णादेवी—उसे दे ही नहीं देनी चाहिये किन्तु प्रसन्नता के साथ धन्यवाद पूर्वक पुस्तक को लौटाना चाहिये।

आत्मवेत्ता—ठीक है। आप लोगों का उत्तर यथार्थ है परन्तु एक बात बतलाओ कि यदि सन्तोषकुमार यह भूलाकर कि पुस्तक का स्वामी रामदत्त है यह कहने और समझने लगे कि यह पुस्तक मेरा है और पुस्तक रामदत्त को न लौटावे तो इसका फल क्या होगा ?

कृष्णादेवी—इसका फल यह होगा कि पुस्तक को तो वह बल पूर्वक छीन कर ले लेगा, क्योंकि पुस्तक उसका है सन्तोषकुमार को पुस्तकके छिन जाने से व्यर्थमें दुःख उठाना पड़ेगा।

आत्मवेत्ता—अच्छा कोई विधि है जिससे सन्तोषकुमार इस दुःख उठाने से बच जावे।

जयसिंह—एक मात्र उपाय यह है कि सन्तोषकुमार प्रसन्नता से पुस्तक को पुस्तक के स्वामी को लौटा देवे।

आत्मवेत्ता—ठीक है। सन्तोषकुमार को इस उदाहरण में दुःख क्यों उठाना पड़ा ?

कृष्णादेवी—केवल इसलिये कि उसने पुस्तक के संबंध में यह भावना पैदा करली थी कि पुस्तक मेरा है,

मृत्यु के दुःख का कारण ममता]-आत्मवेत्ता-ठीक है इसी भावना का नाम "ममता" है, पुस्तक के सदृश संसार की प्रत्येक वस्तु जिसमें-धन संपत्ति ज़िमं दारी, राज्य, पुत्र, पौत्र, बन्धु, बांधव सभी शामिल हैं-ईश्वर के हैं और मनुष्य का केवल प्रयोग के लिये मिले हैं, उन्हें ईश्वर जब भी लेना चाहे प्रयोक्ता को प्रसन्नता से लौटा देने चाहिये; यदि प्रयोक्ता उसमें ममता का सम्बन्ध जोड़ कर कि यह धन मेरा है, संपत्ति मेरी है है, राज्य मेरा है, पुत्र मेरा है, पौत्र मेरा है इत्यादि, उन्हें न देना चाहेगा तो भी पुस्तक के स्वामी के सदृश इन वस्तुओं का स्वामी ईश्वर उन्हें बल प्रयोग करके ले लेगा, और उस समय दांतोषकुमार की भांति प्रयोक्ता को क्लेश भोगना पड़ेगा-क्या यह ठीक है?

"रामदत्त आदि सभी उपस्थित गण" एक स्वर से बोले कि हां ठीक है—

आत्मवेत्ता-तो क्या यही क्लेश आप लोग नहीं भोग रहे हैं?

उपस्थित गण-नीची गर्दन करके प्रथम चुप हो गये फिर आत्मवेत्ता के दुबारा पूछने पर बहुत धीमे स्वर से बोले) ठीक है-यही क्लेश हमसभी भोग रहे हैं।

आत्मवेत्ता-फिर जब आप समझ गये कि आप अनुचित रीति से ममता के वश होकर क्लेश भोग रहे हैं, तो प्रसन्नता के साथ इस क्लेश को दूर कर देना चाहिये, मनुष्य ममता ही के वश में होकर तो इस प्रकार के कार्य्य करता है।

जिससे उसे दुःखी होना पड़ता है इसी ममता के वश में होने का नाम निकृष्ट स्वार्थ है। यही निकृष्ट स्वार्थ है। जिससे मनुष्य को धन संपत्ति के चले जाने या बन्धु बांधवों की मृत्यु से दुःख उठाना पड़ता है। इस के सिवा एक बात और भी है यदि कुछेक लोगों के कथनानुसार इस प्रकार दुःखित और क्लेशित होने को गई वस्तु की पुनः प्राप्ति का यत्न माना जावे तो भी यह यत्न वृथा है। यह बात पिता पुत्रादि के सम्बन्ध की वास्तविकता का ज्ञान होने से स्पष्ट होगी।



"पांचवां परिच्छेद"

(सम्बन्ध का वास्तविक रूप)

पिता, पुत्र, बन्धु-बांधवों के सम्बन्ध का वास्तविक रूप क्या है-यह बात जानने के लिये सम्बन्ध की सत्ता पर विचार करना चाहिये। क्या पिता पुत्र का सम्बन्ध दोनों की आत्माओं में है? उत्तर यह है कि नहीं, क्योंकि पिता पुत्र के सम्बन्ध के लिए आयु का भेद अनिवार्य है। परन्तु आत्मायें सब एक सदृश नित्य हैं। उनका न आदि है और न अन्त। इस लिए यह सम्बन्ध आत्माओं में, आयु का भेद न होने से, नहीं हो सकता। फिर क्या संबंध शरीर और शरीरों में है? नहीं यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि मरने के बाद भी शरीर बाकी रहता है परन्तु कोई उसे पिता या पुत्र समझकर घरमें नहीं रखता। किन्तु शरीर से आत्मा के निकलते ही जबकि उसकी सत्ता शरीर से "शव" हो जाती है, यथा संभव शीघ्र दाह करने की प्रत्येक चेष्टा किया करता है। यदि शरीर ही पिता या पुत्र हो तो उसके दाह करने से पिता या पुत्र के घात का पाप दाह करने वालोंको होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता किन्तु शव का दाह कर्तव्य(१)और पुण्य(२)बतलाया

---

(१) भस्मान्तं शरीरम् (यजु० ४। १०) अर्थात् शरीर के लिये अन्तिम कृत्य भस्म करना है-इसी लिये इस संस्कार का नाम अन्त्येष्टि अर्थात् अन्तिम यज्ञ रक्खा गया है-इसो को नरमेध भी कहते हैं।

(२) एतद्वै परमं तपोयत् प्रेतमरण्यं हरन्ति। एतद्वै परमन्तपोयत् प्रेतमग्नावभ्यादधीत। (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ५ ब्रा० ११ क० १) अथवा शव का श्मशान में ले जाना और उसका दाह करना साधारण तप नहीं किन्तु परम तप है



गया है। प्रत्यक्ष यह स्पष्ट है कि पिता पुत्रादि का सम्बन्ध न तो केवल आत्मा परमात्मा में है और न केवल शरीर शरीर में। फिर यह सम्बन्ध किसमें है? इसका उत्तर यह है कि यह संबंध शरीर और आत्मा के संयोग होने पर स्थापित होता और वियोग होने पर टूट जाता है। आत्मा और शरीर के संयोग का नाम ही पिता पुत्रादि हुवा करता है। एक गृहस्थ के घर में पुत्र का जन्म होता है। इस जन्म होने का अर्थ क्या है? शरीर और आत्मा का संयोग, इसी संयुक्त द्रव्य का नाम ही पुत्र होता है। इस प्रकार जब शरीर और आत्मा के संयोग का नाम ही पिता पुत्रादि हुवा करता है तो इस सम्बन्ध के टूट जाने पर इस सम्बन्ध की समाप्ति हो जाती है। यह परिणाम निकालना अनिवार्य है। इस प्रकार जब मृत्यु-(शरीर और आत्मा का वियोग) होने पर सम्बन्ध टूट जाता जाता है और पिता पुत्रादि की कोई सत्ता बाकी नहीं रहती तो फिर दुःखित और क्लेशित होना रूप यत्न किसकी पुनः प्राप्ति के लिये किया जा सकता है?

एक फ़ारसी के कवि "उर्फ़ी" ने बहुत अच्छी तरह से इसी सिद्धान्त के प्रदर्शित करने का यत्न किया है। उसने लिखा है कि यदि रोने से प्रियतम मिल जाता तो सौ वर्ष तक इसी आशा में रोया जा सकता है (१) निष्कर्ष यह है कि मरने पर मरने वाले के लिये रोना पीटना, दुःखित और क्लेशित होना व्यर्थ और सर्वथा अनावश्यक है बल्कि इसके विपरीत अवशिष्ट परिवारको यह सोचते हुये कि एक वस्तु ईश्वर की थी उसने उसे जब चाहा ले लिया और उसके इस प्रकार

उस वस्तु को ले लेने से हम पर, जो उस से सम्बन्धित, उत्तरदायित्व रूप बोझ था, कम होगया और परिणाम में हमें आंशिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई : इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हर्ष करना चाहिये न कि मातम।

आत्मवेत्ता ऋषि ने यहां पर अपना उपदेश समाप्त किया। उपदेश की समाप्ति पर श्रोताओं के मुखड़ों से एक प्रकार की गम्भीरता प्रकट हो रही थी और जितने वे दुःखित थे उसका बहुत अंश दूर हो चुका था और बाकी रहे दुःख को भी निस्सारता समझते हुये उसके दूर करने के लिये वे यत्न वान् प्रतीत होते थे, और जो कुछ उन्होंने उपदेश सुना था उसपर विचार करते हुये और भी कुछ उपदेश शंकाओं के समाधान रूप में, सुनना चाहते थे। इसी उद्देश से श्रोताओं में से एक बाल उठाः—

प्रेमतीर्थ -(इस उपदेश के लिए कृतज्ञता प्रकाशित करते करते हुये एक प्रश्न करता है) आपने जो वेद की शिक्षा यह बतलाई है कि मृत्यु का दुःख केवल ममता का परिणाम है तो क्या इस का तात्पर्य यह है कि मृत्यु दुःखप्रद ही नहीं है और मरने से मरने वाले को कुछ क्लेश ही नहीं होता।

आत्म वेत्ता—हां यह ठीक है कि स्वयमेव मृत्यु क्लेश प्रद नहीं है। और आगामी संघ में इसकी शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ कहा जायगा।

(१) फ़ार्सी का शेर प्रकार है
उरफ़ी अगर ब गिरिया मयस्सर शदी विसाल।
सदसाल मै तमा व तमन्ना गिरीस्तन॥

"छटा परिच्छेद"

"तीसरा संघ"

"मृत्यु का वास्तविक रूप"

सुन्दर और सुहावनी तपो भूमि में जहां सुख और शान्ति का वायु प्रवाहित होरहा है आत्मवेत्ता ऋषि व्यासासन पर विराजमान हैं। अनेक नरनारी एकत्रित हैं और प्रत्येक के हृदय में एक विलक्षण प्रकार की उत्सुकता है कि आज वे प्रश्नों के प्रश्न जगत् के महत्तम् प्रश्न, मृत्यु के प्रश्न के संबध में एक ऐसे महापुरुष से कुछ सुनने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले हैं जो प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकारी है और इसलिये प्रत्येक नर नारी टकटकी बाँधे हुवे ऋषि की ओर देख रहे हैं कि कब मुखारविन्द से उपदेश आरंभ होता है -

आत्मवेत्ता-ऋषि ने अपने मौनव्रत को तोड़ा और संघ में उपस्थित नर नारियों को उपदेशामृत सुनने की उत्सुकता का अनुभव करके इस प्रकार कहना शुरू किया :—

आत्मवेत्ता-मृत्यु क्या, है इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें अनेक सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। परन्तु जीवन और मृत्यु का वास्तविक रूप यह है कि अनेक नाड़ी और नसों से बने हुवे शरीर और अमर आत्मा के संयोग का नाम जीवन है और उन्हीं के वियोग का नाम मृत्यु है। अपने २ स्वरूप में जीवन और मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जिनमें उत्तरदायित्व पूर्ण कर्तृत्व का आरोप किया जासके वे एक

प्रकार की क्रियायें हैं और इसलिये उनके परिणाम पर ध्यान देकर उन्हें दुःख या सुखप्रद कहा जाता है। यहां मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ कहना है।

"मृत्यु सुखप्रद है" सब से पहिली बात जो मृत्यु के सम्बन्ध में समझलेने की है वह यह है कि परिणाम की दृष्टि से मृत्यु दुःखप्रद नहीं किन्तु सुखप्रद है। मृत्यु किस प्रकार सुखप्रद है? यह सिद्धान्त कुछ व्याख्या चाहता है और वह व्याख्या इस प्रकार है :— जीवन और मृत्यु को दिन और रात के सदृश कहा जाता है। यह सभी जानते हैं कि दिन काम और रात्रि आराम करने के लिये है। मनुष्य दिन में काम करता है। काम करने से उसके अन्तःकरण (मन बुद्धि आदि) और बाह्य करण आंख नाक हाथ पांव आदि सभी थक कर काम करने के अयोग्य होजाते हैं और तब वह कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार शक्ति का ह्रास होने पर रात्रि आती है। दिनमें जहां मनुष्य कीशरीर के भीतर और बाहर की सभी इन्द्रियाँ अपना २ काम तत्परता से करती थीं अब रात्रि आने पर मनुष्य गाढ़ निद्रा में सो जाता है और अन्तःकरण क्या, और बाह्यकरण क्या सभी शान्त और पुरुषार्थ रहित होजाते हैं। काम करने से जहाँ शक्ति खर्च होकर कम होती है काम न करने से खर्च बन्द होजाने से शक्ति पुनः एकत्र होने लगती है इस प्रकार खर्च हुई शक्ति को पुनः देकर रात्रि चली जाती है। फिर दिन आने पर मनुष्य पुरुषार्थमय होकर उस एकत्रित शक्ति को व्यय कर

डालता है। फिर रात्रि आती है और वह पुनः शक्ति का भंडार भर देती है। यह क्रम अनादि काल से चला आता है और अनन्त काल तक चलता रहता है"—

गायत्री (संघ में उपस्थित एक देवी) रात्रि में कोई न करने से शक्ति किस प्रकार एकत्र होजाती है?

आत्मवेत्ता-शक्ति रक्त में रहती है और नया रक्त प्रति समय आहार के रूपान्तरित होने से बनता रहता है और रात्रि में शक्ति का व्यय बन्द होने से उस (शक्ति) की मात्रा बढ़ती रहा करती है, यह नियम प्राणि और अप्राणि सभी में काम करता है। जब किसी भूमि की पैदावार कम होजाती है तो कृषक उसे कुछ काल के लिये छोड़ देता है और उसमें कुछ नहीं बोता और इस प्रकार कुछ अरसे तक भूमि के खाली पड़े रहने से उस में फिर उत्पादिका शक्ति एकत्र होजाती है और भूमि फिर अन्न पैदा करने योग्य होजाती है और तब कृषक फिर उसमें बोना शुरू करदेता है (इस उत्तर देने के बाद आत्मवेत्ताऋषि फिर अपना व्याख्यान जारी करते हैं)

आत्मवेत्ता —जिस प्रकार दिन और रात काम और आराम करने के लिये हैं इसी प्रकार जीवन और मृत्युरूपी दिन रात भी काम और आराम करने के लिये हो हैं। मनुष्य जीवन रूपी दिन में काम करता है। यह काम बाल्यावस्था से आरंभ होकर यौवनावस्था में उच्च शिखर पर पहुंच जाता है। वृद्धावस्था जीवन रूपी दिन का अन्तिम पहर

होता है। इसलिये जिस प्रकार सांयकाल होने से पहिले मनुष्य काम करते २ थक जाता है। और अधिक काम करने योग्य नहीं रहता इसी प्रकार वृद्धावस्था (जीवन रूपी दिन सांयकाल) के आने पर भी मनुष्य काम करने के अयोग्य होजाता है। मस्तिष्क काम नहीं देता, स्मृति खराब होगई। हाथ पांव हिलाना दूभर होगया, अधिक कहने की ज़रूरत नहीं सभी जानते हैं कि बुढ़ापे की अन्तिम अवस्था में मनुष्य काम करने के अयोग्य और निकम्मा होजाता है, चारपाई पर पड़े २ खां २ करने के सिवाय और किसी काम का नहीं रहता। और वह सारा सामर्थ्य, जो बाल्य और युवावस्था में था, बुढ़ापे में स्वप्न की सी बात हो जाती है। इस प्रकार जब जीवनरूपी दिन में मनुष्य काम करते २ थक और अधिक काम करने के अयोग्य हो जाता है। तब मृत्यु रूपी रात्रि आराम देकर निकम्मापन दूर करने के लिये आती है। जिस प्रकार रात्रि में आराम पाकर प्रातःकाल होने पर मनुष्य नये उत्साह, नये सामर्थ्य, नई स्फूर्ति के साथ उठता है इसी प्रकार मृत्यु रूपी रात्रि में आराम पाकर मनुष्य जीवन रूपी दिन के प्रातःकाल रूपी बाल्यावस्था में नये उत्साह, नई शक्ति, नये सामर्थ्य और नई स्फूर्ति के साथ उत्पन्न होता है। जहाँ बुढ़ापे में हाथ पांव हिलाना मुश्किल था वहां बाल्यावस्था इसके सर्वथा विपरीत है। यहां बालकाल में सामर्थ्य की इतनी बहुलता है कि बालक को हाथ पाँव ठहराना कठिन होता है। यदि उसके हिलते हुये हाथों को पकड़लो तो वह पांव हिलाने लगेगा। यदि पांव भी पकड़लो

तो रोने लगेगा। मतलब कि जब तक वह अपने हाथ पाँव हिलाने में बाधक साधनों को दूर न कर लेगा चैन न लेगा, इतना परिवर्तन क्यों होगया? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि मृत्युरूपी रात्रि ने आराम देकर बुढ़ापे की अकर्मण्यता को बाल्यावस्था की इस अपूर्व कर्मण्यता में बदल दिया-इस प्रकार हमने देख लिया कि मृत्यु दुःख देने के लिए नहीं किन्तु आराम और सुख देने के लिए ही आती है। इसी लिये कृष्ण महाराज ने गीता में अर्जुन के प्रति कहा है—

शरीर वस्त्र के सदृश है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता २।२२)

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य फटे पुराने वस्त्र छोड़कर नये वस्त्रों को ग्रहण कर लिया करता है। इसी प्रकार आत्मा जीर्ण और निकम्मे शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण कर लिया करता है। भला कभी किसी को देखा या सुना है कि पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों के ग्रहण करने में उसे दुःख या क्लेश हुआ हो, बल्कि इसके विपरीत यह तो देखा जाता है कि नये वस्त्रों के ग्रहण करने से सभी प्रसन्न होते हैं। फिर भला आत्मा निकम्मे और जरजर शरीर को छोड़कर नये और पुष्ट शरीर के ग्रहण करने से अप्रसन्न और दुःखी किस प्रकार हो सकता है। इस लिये यह सिद्धान्त कि मृत्यु दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है, श्रेयस्कर और ग्राह्य है।

मृत्यु दुःखप्रद क्यों प्रतीत होती है] वीरभद्र—(संघ
एक सदस्य आत्मवेत्ता का उपदेश सुनकर बोला) आ
उपदेश तो अवश्य श्रेयस्कर और ग्राह्य है परन्तु जिस
सिद्धान्त की सीमा उल्लंघन करके क्रियात्मक जगत् पर
डालते हैं तो बात इसके सर्वथा विपरीत मालूम होती है
कुछ रोग से पीड़ित प्राणी जेलखाने में कैद है। रोग की
भयानक रूप धारण किये हुये है-रोगी के शरीर से रक्त
रस रह २ कर प्रवाहित हो रहा है बन्दी होने के कष्ट भी
ही साथ भोगने पड़ते हैं किसी प्रकार का उसको सुख
है किन्तु जीवन, क्लेश और दुःखमय बन रहा है। इस
यदि वह मरजावे तो इन सारे दुःखों से छूटजावे, इसी
यदि इससे पूछते हैं कि इस समस्त दुःखों से बचने के
क्या तुम मरना चाहते हो? तो मरने का नाम सुनक
भी कानों पर हाथ रखता है। यह अवस्था तो एक स
व्यक्ति की हुई कि मृत्यु का नाम, सुनकर कांपने लगा
अब एक विद्वान् वैज्ञानिक का हाल सुनिये।

लाप्लास की एक जीवन घटना—फ्रांस देश क
प्रसिद्ध वैज्ञानिक "ल प्लास" था जिसने जगदुत्पत्ति
में प्रचलित पाश्चात्य सिद्धान्त "नैबुलर
(Nebular theory) का विवरण देते हुये एक पुस्तक
था जिसमें सूर्य चन्द्रादि अनेक नक्षत्रों की उत्पत्ति का
अंकित था। पुस्तक के तय्यार हो जाने पर उसकी
इसने महान् नैपोलियन को भेंट की। नैपोलियन

को पढ़ा और लाप्लास से भेंट होने पर एक प्रश्न किया। प्रश्न यह था कि तुमने पुस्तक में जगत के रचयिता ईश्वर का क्यों कहीं जिक्र नहीं किया। लाप्लास नास्तिक था उसने नास्तिकता पूर्ण उत्तर दिया। उत्तर यह था कि मुझे इस जगदुत्पत्ति का विचार करते हुए ईश्वर की कल्पना करने की कहीं आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। नैपोलियन उसका उत्तर सुनकर खुश होगया। परन्तु जब लाप्लास के मृत्यु का समय उपस्थित हुआ और उसको निश्चय होगया कि अब कुछ क्षण ही में मृत्यु आकर उसकी आत्मा कब्ज़ करना चाहता है तो वह इतना भयभीत होगया कि भय की अधिकता के कारण उसे कुछ भी सुध बुध नहीं रही। और अनायास उसके मुख से ये शब्द निकल पड़े "Love is greater than thousends of my mathematics" अर्थात् ईश्वर का प्रेम मेरी हज़ारों गणितों से अच्छा है' जब ईश्वर का प्रेम उस समय उसे याद आया जब उसने समझ लिया कि अब मृत्यु गला घोंटना चाहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि साधारण स्थिति के आदमी एक ओर मृत्यु से भयभीत होते हैं तो दूसरी ओर लाप्लास जैसे विद्वानों को भी मृत्यु कम डरावना नहीं है। क्रियात्मक रूप में जब मृत्यु इतना भयप्रद है तो फिर किस प्रकार उसे सुखप्रद कहा जा सकता है।

आत्मवेत्ता—यह सच है कि क्रियात्मक संसार में मृत्यु दुःखप्रद सा प्रतीत होता है पर विचारने के योग्य तो यही बात है कि मृत्यु के समय में होने वाले दुःख का कारण स्वयमेव मृत्यु है या और कोई कारण है। जिसे हमने उपस्थित कर लिया है।

वीरभद्र—और क्या कारण हो सकता है ?

[ममता से दुःख होता है मृत्यु से नहीं] आत्मवेत्ता—कारण का संकेत कुछ तो ऊपर किया ही गया है, कुछ उसे और स्पष्ट अब किया जाता है। यह कहा जा चुका है कि जगत की प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है और मनुष्य को प्रयोग के लिये मिली है। मनुष्य को जगत की समस्त वस्तुओं में केवल प्रयोगाधिकार है। ममता के वशीभूत होकर जब मनुष्य उन्हें अपना समझने लगता है तभी उसे कष्ट भोगना पड़ता है।

वीरभद्र—अपना समझने से कष्ट क्यों होना चाहिये ?

आत्मवेत्ता—संसार में मृत्यु का क्रियात्मक रूप यह है कि वह मनुष्यों से प्राप्त वस्तुओं को छुड़ा दिया करता है। कल्पना करो कि जयचन्द्र एक गृहस्थ है, उसके पास अनेक ग्राम उसकी ज़िमींदारी में हैं, बहुत सा धन भी है, पुत्र और पौत्र भी हैं। निदान सब प्रकार से धन धान्य और कुटुम्ब परिवार से परिपूर्ण है। पर्य्याप्त आयु भोगने के बाद अब जयचन्द्र मृत्यु शय्या पर है और शीघ्र ही संसार से कूँच करने वाला है। अच्छा बतलाओ कि जयचन्द्र यहां से जब जायगा तो वह अपने साथ क्या २ लेजायेगा।

[मनुष्य के साथ केवल धर्माधर्म जाते हैं] सत्यशील—जयचन्द्र यहां से अपने किये हुये कर्म्मों के सिवा, जिन्हीं का नाम धर्माधर्म है, और कुछ न ले जायगा।

आत्मवेत्ता—क्या ज़िमींदारी, धन, संपत्ति, पुत्र, और पौत्रों में से किसी को भी अपने साथ न ले जायगा ?

सत्वशील– नहीं,

आत्मवेत्ता– क्यों साथ न ले जायगा ? अपनी इच्छा से साथ न लेजायगा या किसी मजबूरी से ! यदि किसी मजबूरी से, तो वह मजबूरी क्या है ?

सत्वशील– अपनी इच्छा से तो कौन अपनी वस्तुओं को छोड़ा करता है अवश्य कोई मजबूरी हो होनी चाहिये और वह मजबूरी-मृत्यु के सिवा और कुछ प्रतीत भी नहीं होती है।

[सांसारिक वस्तुओं में केवल प्रयोग अधिकार है]

आत्मवेत्ता– ठीक है। वह मजबूरी मृत्यु के ही रूपमें है। मृत्यु का काम ही यह है कि वह मृत पुरुष से जीवन में प्राप्त वस्तुओं धन सम्पत्ति आदि को छुड़ा दिया करती है। यदि जयचन्द्र इन वस्तुओं में अपना केवल प्रयोगाधिकार ही समझता है तो वह उस स्कूल मास्टर की तरह है कि जो स्कूल का अन्तिम घंटा बजते ही स्कूल की इस्तैमाली किताबों और ब्लेकबोर्ड आदि को जो उसे स्कूल के घंटों में स्कूल का काम चलाने के लिये मिले थे, स्कूल ही में छोड़कर प्रसन्नता के साथ स्कूल से चल देता है, समस्त प्राप्त वस्तुओं सम्पत्ति आदि को स्वमेव यहीं छोड़ कर यह समझता हुआ कि जीवन रूपी स्कूल के समाप्त होने पर इनके प्रयोग की अवधि भी समाप्त होगई प्रसन्नता के साथ संसार से चल देगा और इस दशा में उसे कुछ भी दुःख मृत्यु से न होगा।

श्रीहर्ष– जयचन्द्र को इस अवस्था में कुछ तो दुःखी होना ही पड़ेगा। क्योंकि उसे अपनी वस्तुयें तो छोड़नी ही पड़ेंगी।

आत्मवेत्ता—कदापि नहीं। क्या उस स्कूल मास्टर को स्कूल की वस्तुयें, स्कूल में छोड़ कर छुट्टी होने पर घर चलते समय भी कुछ दुःख हुआ था?

श्रीहर्ष—स्कूल मास्टर तो प्रसन्नता से छुट्टी होने पर घर जाया करते हैं। उन्हें तो कुछ भी दुःख नहीं होता।

आत्मवेत्ता—तब जयचन्द्र को क्यों दुःख होना चाहिये यह भी तो सारी सम्पत्ति को अपनी नहीं किन्तु ईश्वर की समझ कर, प्रयोग की अवधि (आयु) समाप्त होने पर जा रहा है। हां जयचन्द्र को उस हालत में दुःख हो सकता है। यदि वह इन समस्त वस्तुओं में ममता जोड़कर यह समझने लगे कि ये वस्तुयें मेरी हैं।

हर्षवर्धन—ममता जोड़ने से क्यों दुःख होगा?

आत्मवेत्ता] इसलिये कि वह तो इन वस्तुओं को अपनी समझ कर छोड़ना न चाहेगा क्यों कि कौन अपनी वस्तुओं को छोड़ा करता है, परन्तु मृत्यु उससे इन वस्तुओं को बल पूर्वक छुड़ावेगा। बस, बल पूर्वक, इच्छा के विरुद्ध वस्तुओं के छुड़ाने ही से तो कष्ट हुआ करता है। इससे साफ़ जाहिर है कि मृत्यु स्वयमेव दुःखप्रद नहीं किन्तु मनुष्य जगत् की वस्तुओं में ममता जोड़कर मृत्यु के समय मृत्यु को दुःख-प्रद बना लिया करता है।

एक उदाहरण] एक और उदाहरण से इस बात को समझिये। यदि कोई राजकर्मचारी यहां आकर आज्ञा देवे। रामदेव इस संघ को छोड़ कर चला जावे, तो उसे कष्ट होगा या नहीं?

शीलभद्र—अवश्य कष्ट होगा।

आत्मदेता— परन्तु यदि रामदत्त किसी कार्यवश स्वयमेव इस संघ से उठ कर चला आवे तो क्या तब भी उसे दुःख होगा ?

शीलभद्र— तब उसे कुछ भी दुःख न होगा। क्योंकि वह तो अपनी प्रसन्नता से स्वयमेव उठ कर गया है।

आत्मदेता—तो विचार यह करना है कि दोनों सूरतों में रामदत्त को संघ छोड़ना पड़ता है परन्तु जब वह स्वयमेव छोड़ता है तब दुःखी नहीं होता। और जब दूसरा कोई उसे जबरदस्ती करके संघ छुड़ाता है तब उसे दुःखी होना पड़ता है इन दोनों अवस्थाओं में जो दो प्रकार की एक दूसरे से विभिन्न हालत होती है। इसका कारण यह है कि जब मनुष्य अपनी इच्छा से कोई काम करता है तब उसे दुःख नहीं होता परन्तु वही काम जब अनिच्छा से करता है तब उसे दुःखी होना पड़ता है। इसी उदाहरण के अनुसार जब मनुष्य संसार की सांसारिक वस्तुओं में ममता का नाता न जोड़कर स्वयमेव छोड़ता है तब उसे मृत्यु के समय दुःखी नहीं होना पड़ता। परन्तु जब ममता के वश होकर प्राणी संसार को स्वयं नहीं छोड़ता और मृत्यु बलपूर्वक उसकी इच्छा के विरुद्ध उस से संसार छुड़ा देता है तब उसे क्लेशित होना पड़ता है। अतःस्पष्ट है कि मनुष्य को मृत्यु के समय उसके दुःख का कारण संसार के न छोड़ने की इच्छा है न कि स्वयमेव मृत्यु। इस संसार के न छोड़ने की इच्छा मनुष्य को क्यों उत्पन्न होती है? इसका कारण

वही ममता है जिसके फेर में पड़कर मनुष्य यह समझने लगता है कि संसार में मेरी ज़िम्मेदारी है, मेरा धन है, मेरी सम्पत्ति है, मेरे पुत्र पौत्र हैं, स्त्री है, मकान है अर्थात् जो है सब यहीं तो है। इस लिये संसार नहीं छोड़ना चाहिये।

आत्मवेत्ता ऋषि ने इस प्रकार अपना उपदेश समाप्त किया संघ के सदस्य उपदेशामृत पान करके अपने को कृतकृत्य समझते थे। परन्तु विषय के गहन होने से शंकाओं का उठना समाप्त नहीं हुआ था, इसलिये उनमें से एक पुरुष इस प्रकार बोल उठा —

शीलभद्र —यह बात तो स्पष्ट होगई कि मृत्यु स्वमेव दुःख प्रद नहीं। इस ज्ञान वृद्धि के लिये हम सभी उपस्थित नरनारी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं। इस उपदेश से यह भी प्रकट होगया कि यदि मरने वाला अपने को ममता के बन्ध से मुक्त रख सके तो बिना किसी प्रकार का दुःख उठाये प्रसन्नता से इस जगत से कूँच कर सकता है और यह भी पहले उपदेश मिल ही चुका है कि पिता पुत्रादि के संबंध शरीर और आत्मा के संयोग ही के नाम हैं। इनके वियोग होने पर फिर संबंध की कोई सत्ता अवशिष्ट नहीं रहती और इस प्रकार जब सम्बन्ध ही नहीं रहा तो फिर परलोक गतो सम्बन्धी के लिये रोना पीटना अथवा और कोई इसी प्रकार की क्रिया करना सर्वथा निरर्थक है। परन्तु मरने वाला मरकर कहां जाता है? परलोक किसका नाम है? इस बात के जानने के लिये हम सबबड़े उत्कण्ठित हैं। कृपा करके आगामि संघ में इस विषय का उपदेश करें—

आत्मवेत्ता—बहुत अच्छा (इसके बाद आज का संघ समाप्त होगया)

"दूसरा अध्याय"

"मरने के बाद क्या होता है ?"

सुन्दर और सुहावने वृक्षों की शीतल छाया में संघ संघटित है अनेक नर नारी परलोक का हाल जानने के लिये बड़े उत्सुक दिखाई देते हैं। आत्मवेत्ता अपने नियत स्थान व्यासासन पर सुशोभित हैं, संघ के कार्य्य का आरंभ होने में अभी ५ मिनट की देर है। इसलिये संघ को संघटित देख कर भी आत्मवेत्ता अपना उपदेश आरंभ नहीं करते हैं।

श्वेतकेतु–महाराज संघ में आने वाले नर नारी आतो गये ही हैं, ५ मिनट की क्या बात है, ५ मिनट पहले ही उपदेश आरंभ कर देवें।

आत्मवेत्ता– नहीं ! यह नहीं होसकता। जो सज्जन समय के पाबन्द हैं ठीक समय पर आवेंगे। समय से पूर्व कार्य्य शुरु करने का फल यह होगा कि वे उन शिक्षाओं से लाभ न उठा सकेंगे जो समय से पूर्व दी जा चुकेंगी। फल यह होगा कि उन्हें समय की पाबन्दी करने का इनाम के जगह दण्ड भोगना पड़ेगा। जो मनुष्य समय की पाबन्दी करते हैं उनके लिये ५ मिनट बड़ा मूल्य रखते हैं, "नेपोलियन" ने आस्ट्रिया के विजय कर लेने पर कहा था कि उसने आस्ट्रिया को इसलिये विजय करलिया कि आस्ट्रिया वाले ५ मिनटका मूल्य नहीं जानते थे। इसलिये संघ का

वही कार्य न तो समय से पूर्व शुरु होगा न समय के बाद। किन्तु ठीक समय पर ही सदैव शुरु होता रहा है और आयन्दे भी ऐसा ही होगा। ऋषि की अनुमति से संघ में उपस्थित एक प्रेमी ने मग्न होकर एक भजन गायन किया:-

असरण शरण, शरण हम तेरी।
भूले हैं, मार्ग विपिन सघन है-छाई गहन अन्धेरी ॥१॥
दशायें समीर चली ऐसी- सब सुमन सुमन बिखराये।
हा सद्भाव-सुगन्धि सुराई प्रेम प्रदीप बुझाये ॥२॥
कलह कदर्को से छितराया-सुख रस सभी सुखाया।
भ्रातृभाव के नाते तोड़े- अपना किया पराया ॥३॥
लख दुर्दशा हमारी नभ ने ओस बूंद छलकाई।
यह भी हम पर गिरकर फूटी इधर उधर कतराई ॥४॥
करुणासिन्धु सदारा तेरा, तू ही है रखवाला।
दीन अनाथ हुये हम हा! हा! तू दुःख हरने वाला ॥५॥
ऐसी कृपा प्रकाश दिखादे-अपनी दशा सुधारें।
आत्मस्थान का मार्ग पकड़लें विश्वप्रेम उर धारें ॥६॥

:०:

भजन समाप्त हुआ ही था और समय पूरा होने में जब केवल एक मिनट बाकी था—तब क्या देखते हैं कि १०—१२ अच्छे शिक्षित विद्वान जिनमें कई विदेशी विद्वान भी थे संघ में सम्मिलित हुये, और आत्मवेत्ता ऋषि का यथोचित सम्मान करने के बाद उचित स्थानों पर बैठ गये। संघ के कार्य्यारम्भ होने का समय भी हो चुका था इस लिये ऋषि ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया:-

आत्मवेत्ता] यह बात कही जा चुकी है कि मनुष्य और प्रत्येक प्राणी शरीर और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है। वेद में कहा गया है कि शरीर में, आने जाने वाला जीव अमर है, परन्तु यह शरीर केवल भस्म होने तक रहता है, उसके बाद नष्ट हो जाता है। (‡) इसका भाव यह है कि आत्मा तो सदैव एक ही बना रहता है, परन्तु शरीर बराबर प्रत्येक जन्म में बदलता रहता है. इसी लिये आत्मा को अमर और शरीर को मरण-धर्मा कहा गया है।

श्री हर्ष—क्या आत्मा कभी पैदा ही नहीं होता? जगत् के प्रारंभ में तो ईश्वर उसको भी रचना करता ही होगा?

आत्मवेत्ता] नहीं आत्मा की रचना कभी नहीं होती, इसीलिये सतशास्त्रों में उसके लिये कहा गया है कि "आत्मा न तो उत्पन्न होता और न मरता है, न उसका कोई उपादान कारण (Material Cause) है और न वह किसी का उपादान है, अर्थात् न वह किसी से उत्पन्न होता है, और न उससे कोई उत्पन्न होता है, वह (आत्मा) अजन्मा, नित्य, प्राचीन और सनातन है, शरीर के नाश होने से उसका नाश नहीं होता है। (†) (इस उत्तर देने के बाद आत्मवेत्ता ने पुनः अपना उपदेश शुरु किया)

आत्मवेत्ता] आत्मा के इस प्रकार शरीरों के बदलते रहने की प्रथा का नाम पुनर्जन्म या आवागमन है, जब प्राणी एक शरीर (तात्पर्य्य मनुष्य शरीर से है) छोड़ता है तो इस प्रकार शरीर छोड़ने या मरने के बाद उसकी तीसरी गति होती है।

(‡) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं ँ शरीरम्॥ यजु०अ० ४०

(†) न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (कठोपनिषद् २। १८) इसी उपनिषद् वाक्य को गीता में भी उद्धृत किया गया है, बहुत थोड़े पाठ भेद के साथ (देखो गीता २। २०)।

"दूसरा परिच्छेद"

"मरने के बाद की पहिली गति"

आवागमन आवश्यक है] आत्मवेत्ता—मनुष्य की पहिली गति यह है जिसमें उसके पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म संचित होते हैं। "नचिकेता" ने एकवार "यम" से यही प्रश्न किया था कि मरने के बाद प्राणी की क्या गति होती है? "यम" ने उसका उत्तर दिया था कि "मरने के बाद एक प्रकार के प्राणी तो जंगम (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि, चलने फिरने वाले प्राणियों की) योनियों को प्राप्त होते हैं। परन्तु दूसरे प्रकार के प्राणी स्थावर (न चलने वाले वृक्षादि की) योनियों में आते हैं"। ये दो अवस्थायें प्राणियों की क्यों होती हैं? यमाचार्य्य ने इसका उत्तर यह ही दिया था कि उन प्राणियों के ज्ञान और कर्म के अनुसार ही ये विभिन्नता होती है। (१) जब मनुष्य के पुण्य पाप बराबर या पुण्य कर्म अधिक होते हैं तब उसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है। परन्तु जब अवस्था इसके विरुद्ध होती है अर्थात् पुण्य कर्म कम या कुछ नहीं या पाप अधिक या सब पाप ही पाप होते हैं तो उसे मनुष्य से नीचे दरजे की चल और अचल योनियों में जाना पड़ता है।

---

(१) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥
(कठोपनिषद् ५।७)

वसन्तीदेवी—क्या जीव मनुष्य योनि तक पहुँचकर फिर अपने से निम्नश्रेणी की योनियों में भी जा सकता है ?

मनुष्यों को बीचे की योनियों में भी जाना पड़ता है] आत्मवेत्ता—हां ! जा सकता है। यदि उसके कर्म अधिकता के साथ बुरे हैं तो अवश्य उसे नीचे जाना पड़ेगा।

वसन्तीदेवी—परन्तु यह तो विकास के नियमों के विरुद्ध है कि मनुष्य उन्नति करके फिर पीछे लौटे।

विकास के साथ ह्रास अनिवार्य है] आत्मवेत्ता—दुनिया में एक पहिये की गाड़ी कभी नहीं चलती। ह्रास शून्य विकास की कल्पना भी क्लिष्टकल्पना हो नहीं किन्तु प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है। जगत् में कोई वस्तु नहीं देखी जाती जिसमें विकास के साथ ह्रास लगा न हो। मनुष्य उत्पन्न होता है परन्तु अन्त में उसे मरना भी पड़ता है। सूर्य बनता है, उसकी उष्णता पूर्ण कला प्राप्त कर लेती है। परन्तु पूर्णता के बाद ही ह्रास शुरू हो जाता है एक समय आता है और आवेगा जब सूर्य उष्णता हीन हो जायगा। चन्द्रमा बढ़ता है परन्तु पूर्ण कला को प्राप्त करके उसे घटना भी पड़ता है। एक समय चन्द्रमा में जलादि का होना बतलाया जाता था परन्तु अब कहते हैं कि जल का ह्रास होकर चन्द्रमा जलशून्य हो गया इत्यादि। इस प्रकार जब सृष्टि का सार्वत्रिक नियम यह है कि विकास के साथ ह्रास भी होता है तब मनुष्य इस नियम से किस प्रकार पृथक् हो सकता है ? इसके सिवा कर्म सिद्धान्त की दुनिया में जब हम प्रविष्ट होते हैं तो वहां तो पुण्य कर्म

यही के साथ पाप कर्म मौजूद ही है और पुण्यकर्म करके यदि उत्तम फल प्राणी प्राप्त किया करता है तो पाप कर्म करके उसके फल से किस प्रकार बच सकता है ? मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है यह स्वतन्त्रता उसका जन्म सिद्ध अधिकार है। परन्तु चोरी और इसी प्रकार के दुष्ट कर्म करके उसे जेलखाने जाना पड़ता है जहां उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है। क्या तुम नहीं देखते कि स्वतन्त्रता प्राप्त प्राणी दुष्ट कर्मों से बन्धन में आकर स्वतन्त्रता खो बैठता है ?

बसन्ती देवी—यह तो देखा ही जाता है।

आत्मदर्शी—तो फिर यदि ह्रास शून्य विकास ही का नियम दुनिया में काम करता होता तो स्वतन्त्रता प्राप्त मनुष्य परतन्त्र कैसे हो जाता ? भूल यह है कि तुम कर्म सिद्धान्त को भूलकर केवल विकास रूप मृग तृष्णा से प्यास बुझाने की इच्छा में हो, प्राणी कर्म फल ही से मनुष्य बनता है और कर्म फल ही से प्राप्त मनुष्यता को खो भी देता है।

बसन्ती देवी—बन्दी होना रूप परतन्त्रता तो अस्थायिनी होती है परन्तु निम्न योनियों में जाना तो उससे भिन्न बात है।

आत्मदर्शी—बन्दी होकर बन्दी गृह में जाना और निम्न योनियों को प्राप्त होना इनमें नाम मात्र की विभिन्नता है। मनुष्य योनि ही एक योनि है जिसमें भोग के साथ प्राणी स्वतन्त्रता से कर्म कर सकता है। बाकी जितनी योनियां हैं वे सभी भोगरूप योनियां जेलखाने के सदृश हैं। मनुष्य जितनी अवधि के लिये इन योनियों में जाता है उसे समाप्त करके

फिर जेलखाने से वापिस होने के सदृश मनुष्ययोनि में लौट आता है।

देवप्रिय—प्राणी इन योनियों में आखिर जाता क्यों है?

आवागमन मनुष्य सुधार के लिये है] आत्मदर्शी—प्राणी स्वयमेव अपनी इच्छानुसार इन नीची योनियों में नहीं जाता किन्तु बन्दी होकर जेलखाने में भेजे जाने के सदृश हो, इन निम्न योनियों रूप जेलखानों में भी, सर्वोच्च न्यायाधीश की आज्ञानुसार, दण्ड भोगने के लिये, किन्तु सुधार के उद्देश्य से, भेजा जाता है।

देवप्रिय—वहाँ सुधार किस प्रकार होता है?

आत्मदर्शी—मनुष्य का पाप यही है कि वह अपनी इन्द्रियों को पापकर्म करने का अभ्यासी बनाकर स्वयमेव उनके बन्धन में फंस जाता है। तब दयालु न्यायाधीश अपनी दयापूर्ण न्यायव्यवस्था से उसे ऐसी किसी योनि में भेज देता है जहां उसकी वही इन्द्रिय छिन जाती है। कल्पना करो कि एक मनुष्य ने आंखों को पापमय बना लिया है तो वह किन्हीं ऐसी योनियों में भेज दिया जायगा जो चक्षुहीन हैं। करने से करने का और न करने से न करने का अभ्यास हुआ करता है। इस लिये आंखों के गोलकों के न होने से आंखों का काम बन्द होगया और काम बन्द हो जाने से आँखों का बुरा और पाप करने का अभ्यास छूट जावेगा। ज्यों ही यह अभ्यास छूट जाता है—त्यों ही वह फिर मनुष्य योनि में लौटा दिया जाता है जहां अब आंखों के बन्धन से स्वतन्त्र है। इसी प्रकार आवागमन के द्वारा इन्द्रियों का सुधार हुआ

रता है। जब कोई अधम प्राणी सम्पूर्ण इन्द्रियों से पाप करके उन्हें पापमय बना लेता है तब वह स्थावर योनियों में भेज दिया जाता है। जो इन्द्रिय रहित योनियां हैं उनमें जाने से समस्त इन्द्रियों का उपरोक्त भांति सुधार हुआ करता है।

तर्कप्रिय—आपने ईश्वर को, दयालु न्यायाधीश कहकर संकेत किया है। भला न्याय और दया ये परस्पर विरोधी गुण किस प्रकार एक व्यक्ति में एकत्रित रह सकते हैं।

आत्मवेत्ता—न्याय और दया परस्पर विरोधी गुण नहीं हैं। इन के समझने में साधारण पुरुष हो नहीं किन्तु कभी २ उच्च कोटि के विद्वान भी गलती किया करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी इसी प्रकार की भूल की है उसने ईश्वर को अज्ञेय (Unknowable) प्रमाणित करने के लिये एक हेतु यह भी दिया है कि न्याय और दया दो विरोधी गुण किस प्रकार एक ही व्यक्ति में इकट्ठे हो सकते हैं। इस प्रकार के पक्ष का समर्थन करने वाले एक भूल किया करते हैं और वह भूल यह है कि वे दया का भाव अपराधोंकामाफ़ करना समझते हैं। अपराधों का माफ़ करना दया नहीं किन्तु अन्याय है और दया और अन्याय एक भाव के बतलाने वाले शब्द नहीं हैं किन्तु एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं।

तर्कप्रिय—तो फिर दया और न्याय में अन्तर क्या है?

आत्मवेत्ता—दया और न्याय में अन्तर यह है कि न्याय कर्म की अपेक्षा रखता है। जब कोई पुरुष कर्म न करे कोई

न्यायाधीश न्याय नहीं कर सकता। न्याय कर्म के फलाफल देने का नाम है। परन्तु दया दयालु अपनी ओर से किया करता है। दया के लिये कर्म की अपेक्षा नहीं दोनों में भी अन्तर है यह स्पष्ट होगया कि न्याय के लिये कर्म की अपेक्षा है परन्तु दया के लिये कर्म अपेक्षित नहीं।

तर्कमित्र:—यदि ईश्वर के लिये यह कल्पना की जावे कि वह अपराधी को उचित समझने पर माफ भी कर सकता है तो इसमें हानि क्या है? इससे मनुष्यों में ईश्वर के प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव ही उत्पन्न होंगे।

आत्मदेव:—अपराधों का दण्ड विधान न होने और क्षमा कर देने का फल यह होता है कि मनुष्यों की प्रवृत्ति अपराध करने की ओर बढ़ा करती है। अपराध करने से जो बुरा प्रभाव मनुष्य के अन्तःकरणों पर पड़ा करता है जिन्हें कर्म की रेखा कहते हैं वह प्रभाव का रेखा फल-भोग के बिना नष्ट नहीं होती। इसलिये मनुष्य का भविष्य सुधारने के लिये भी अपराधों का दण्ड विधान अनिवार्य है। परन्तु वह दण्ड सबके लिये एकसा नहीं हो सकता एक लज्जाशील विद्यार्थी के लिये एक अपराध के बदले में इतना ही दण्ड पर्याप्त हो सकता है कि उसे केवल आंखों से ताड़ना करदी जावे। परन्तु दूसरे निर्लज्ज विद्यार्थी को उसी अपराध के बदले में बेंतों से दण्ड देना भी कठिनता से काफ़ी समझा जाता है। इस लिये दण्ड की मात्रा उतनी ही पर्याप्त हो सकती है जितने से अपराधी का सुधार हो सके और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसकी अवस्थानुसार

पृथक् २ ही हो सकती और हुआ करती है।

आत्मवेत्ता—(इन उत्तरों के देने के बाद ऋषि ने फिर अपना व्याख्यान शुरू किया) जिस समय मनुष्य मृत्युशय्या पर होता है और अन्तिम श्वास लेने की तैयारी करता है तब उसकी अवस्था यह होती है:—

प्राण छोड़ने के समय प्राणी की क्या हालत होती है? जिस प्रकार कोई राजा जब कहीं से आता है तब उसे विदा करने के लिये उसके पास ग्राम नायक आदि आते हैं उसी प्रकार जीवात्मा जब ऊर्ध्व श्वास लेना शुरू करता है तब उसके चारों ओर सब इन्द्रिय और प्राण उपस्थित होते हैं। जीव उस समय अपने तेजस्अंशों को जो समस्त शरीर में फैला रहता है समेटता हुआ हृदय की ओर जाता है, अब वह आंख के तेज को खींच लेता है तब वह बाहर की किन्हीं वस्तुओं को नहीं देखता और उस समय निकट बैठे बान्धव कहने लगते हैं कि अब यह नहीं देखता इसी प्रकार जब वही प्राण वाक्, श्रोत्र, स्पर्श, मनादि समस्त बाह्य और अन्तः करणों से अपने तेज को खींच लेता है, तब वे ही बन्धु-बान्धव कहने लगते हैं कि अब यह नहीं सूंघता, नहीं बोलता, नहीं सुनता, नहीं छूता, नहीं जानता, इत्यादि। उससमय उसके हृदय का अग्रभाग आकर्षित होने लगता है और वह उसी प्रकाश के साथ शरीर से निकलता है। + नेत्र या शरीर के किसी दूसरे भाग से निकलता है निकलने के मार्गों का भेद उसकी अन्तिम गतियों के अनुकूल होता है।

+ देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ४ कण्डिका १--२

+ जब जीव शरीर से निकलता है तो उसके साथ ही प्राण और सम्पूर्ण सूक्ष्म इन्द्रिय (सूक्ष्म शरीर) भी स्थूल शरीर को छोड़ते हैं। इस प्रकार शरीर से निकलने वाले जीव के साथ उसके ज्ञानकर्म और पूर्व प्रज्ञा (पूर्व जन्मानुभूत बुद्धि) भी होते हैं * इस प्रकार पुण्य और पाप कर्म दोनों के वशीभूत जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे नवे शरीर को ग्रहण कर लेता है।

एक योनि से दूसरी योनि तक पहुँचने में कितना समय लगता है।) शीलभद्र—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीरके ग्रहण करने में जीव को कितने दिन लगते हैं और इन दिनों में वह जीव कहां रहता है?

आत्मदर्शी—"याज्ञवल्क्य" ने "जनक" को इसी प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा था कि जैसे "तृणजलायुका" (एक कीड़ विशेष) एक तिनके के अन्तिम भाग पर पहुंचकर दूसरे तिनके पर अपने अगले पांव जमाकर तब पहिले तिनके को छोड़ती है। इसीप्रकार जीवात्मा एक शरीर को उसी समय छोड़ता है जब दूसरे नवेशरीर का आश्रय ग्रहण कर लेता है *

+ कठोपनिषद् में लिखा है कि जब जीव मुक्ति का अधिकारी हो जाता है तब शरीर से मूर्धा में निकलने वाली नाड़ी (सुषुम्ना) के द्वारा निकलता है। परन्तु जब मुक्ति से भिन्न गति होती है तब अन्य मार्गों से निकला करता है— (कठो० ६।१६)

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् ४-४-२

* ,, ,, ४-४-३

शीलभद्र—आखिर इसमें कुछ समय तो लगता ही होगा बिना समय के तो यह कार्य नहीं हो सकता।

आत्मवेत्ता—अकथ कुछ न कुछ समय एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर के ग्रहण करने में लगता है। परन्तु वह समय इतना थोड़ा होता है कि मनुष्य ने जो समय की नाप तोल (दिन, घड़ी, मुहुर्तादि) स्थित की है उस गणना में नहीं आता।

जीव दूसरे शरीरमें जाता क्यों है?) इन्द्रदेव—यह जीव दूसरे शरीर में जाता क्यों है? जब एक शरीर से निकलना उसके अधिकार में है तो दूसरे में जाना भी उसी के अधिकार में होना चाहिये।

आत्मवेत्ता—एक शरीर को छोड़ना और दूसरे को ग्रहण करना इन दोनों में से एक भी जीव के अधिकार में नहीं है। शरीरस्थ जीवके लिये एक अवह "जनक" के एक प्रश्न का उत्तर देते हुवे "याज्ञवल्क्य" ने बतलाया था कि "वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, कामय, अकामय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, एवं सर्वमय है। यह जीव इदम्मय और अदोमय है। इसीलिये उसको सर्वमय कहते हैं। जैसे कर्म और आचरण करता है जीव वैसा ही होजाता है। साधु (अच्छा) कर्म वाला साधु और पाप कर्म करने वाला पापी होता है। पुण्यकर्म से पुण्यवान और पापकर्म से पापी होता है। यह जीव काम-(इच्छा) मय है जैसी उसकी कामना होती है वैसा ही वह कर्म

करता है और जैसा कर्म करता व सा ही फल पाता है"+ एक और ऋषि ने कहा है कि "जो मनुष्य मन में उनका ध्यान रखता हुआ जिन २ विषयों की इच्छा करता है वह उन २ कामनाओं के साथ, वहां २ वे उसे खींच कर ले जाती हैं वहां २ उत्पन्न होता है"‡ इन कथनों से स्पष्ट है कि जीव अपने कर्मानुसार एक शरीर छोड़ने और दूसरे के ग्रहण करने में परतन्त्र होता है—अर्थात् कर्मानुसार उसे जहां उत्पन्न होना चाहिये वहीं उत्पन्न होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

विनयकुमार—आपने अभी कहा था कि जीव सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियों के साथ शरीर से निकलता है क्या उनकी मृत्यु नहीं होती?

शरीर के भेद और उनका विवरण) आत्मवेत्ता—सूक्ष्म शरीर की मृत्यु नहीं होती—मृत्यु केवल स्थूल शरीर की हुआ करती है। इन दो के सिवा एक तीसरा कारण शरीर और भी है उसकी भी मृत्यु नहीं होती। सूक्ष्म और कारण ये दोनों शरीर आत्मा से उस समय पृथक होते हैं जब वह पूर्ण स्वतन्त्रता रूप मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

विनयकुमार—ये तीन शरीर क्यों आत्मा को दिये गये हैं, क्या एक शरीर से आत्मा का काम नहीं चल सकता था?

आत्मवेत्ता—एक शरीर से चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म तीनों शरीरों का काम नहीं चल सकता था तीनों के काम पृथक पृथक इस प्रकार हैं:—

+ बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्रा० ४ क० ५।
‡ मुण्डकोपनिषद् ३।२।२

"स्थूल शरीर"—१० इन्द्रियां का समुदाय है और शरीरके वे अवयव भी उसमें शामिल हैं जिनका काम अनिच्छित रीति से प्राकृतिक नियमानुसार होता है। जैसे हृदय, फेफड़े आदि इस शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य की शारीरिकोन्नति होती है। यह शरीर ५ स्थूलों भूतों का कार्य्य होता है।

"सूक्ष्म शरीर"—सूक्ष्म भूतों से निम्न भांति बनता है:–

सूक्ष्मभूत रूप कारण	सूक्ष्म शरीर रूपी कार्य
१ महत्तत्व	१ बुद्धि
१ अहंकार	१ अहंकार (*)
२-७५,पञ्च तन्मात्रा	२-७१ शब्द-स्पर्श-रूप रस-गन्ध ५ ज्ञानेन्द्रियों के विषय
८-१७;१० इन्द्रिय	८-१७ =५ प्राण+५ ज्ञानेन्द्रिय
१८ मन	१८ मन

यह सूक्ष्म शरीर शक्ति समुदाय रूप में रहता है और इसके विकास और पुष्टित होने से मानसिकोन्नति होती है–

कारणशरीर — कारणरूपप्रकृति अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् की साम्यवस्था इस शरीर के पुष्ट होने से मनुष्य योगी और ईश्वरभक्त बना करता है। इन तीन

(*) अहंकार को सूक्ष्म शरीरावयों की गणना से प्रायः पृथक करके सूक्ष्म शरीर १७ वस्तुओं का ही समुदाय माना जाता है इसका कारण यह है कि अहंकार का काम शरीर के पृथक निर्मित हो जाने से पूरा सा हो जाता है।

शरीरों का विभाग एक दूसरे प्रकार से भी किया गया है। जिस विभाग का नाम "कोश विभाग" है। ३ शरीर और ५ कोशों का सम्बन्ध इस प्रकार है:—

३ शरीर और ५ कोष

(१) स्थूल शरीर	=	(१) अन्नमय कोष
(२) सूक्ष्म शरीर	=	(२) प्राणमय कोष
		(३) मनोमय कोष
		(४) विज्ञानमय कोष
(३) कारण शरीर		(५) आनन्दमय कोष

क्या सूक्ष्मशरीरधारियों का पृथक् लोक है ?

बसन्तीदेवी] क्या सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर का सूक्ष्म रूप, एक सूक्ष्म पुतले की भांति, नहीं होता ? कहा तो यह जाता है कि सूक्ष्मशरीर (Astral body) धारियों का एक पृथक् लोक है, और वे उस लोक में बिना स्थूलशरीर ही के रहते हैं, और अपना काम उसी अपने सूक्ष्मशरीर से चला लेते हैं अपनी इच्छानुसार मनुष्यों की सहायता भी करते हैं मनुष्यों की प्रार्थना का स्वीकार या अस्वीकार करना इन्हीं सूक्ष्मशरीरधारियों के ही अधिकार में है इत्यादि।

आत्मवेत्ता) ये सब क्लिष्ट कल्पना मात्र है। सूक्ष्म-शरीर के अवयव सूक्ष्मेन्द्रिय का कुछ भी काम नहीं दे सकते। यदि उनके कार्यका साधन रूप स्थूलेन्द्रिय (इन्द्रियोंके गोलक) नहीं। एक पुरुष सूक्ष्म चक्षु और सूक्ष्म श्रोत्रेन्द्रिय रखता है। परन्तु यदि बाह्यगोलक न हों या काम देने के अयोग्य हों तो

सुन न देख सकता है, और न सुन सकता है, फिर यह बात किस प्रकार स्वीकृत हो सकती है कि सूक्ष्मशरीर मात्र से कोई अपना सब काम चला सकते हैं और यह कि उनका एक पृथक् ही लोक है।

भूतप्रेत क्या हैं ?) वसन्तीदेवी-ये भूतप्रेत फिर क्या हैं? ये किस प्रकार का शरीर रखते हैं, आंखों से तो उनका भी शरीर नहीं दिखाई देता है।

आत्मवेत्ता—मनुष्य जब मर जाता है तो उसके शव (लाश) का नाम "प्रेत" हो जाता है, जब तक उसको भस्म नहीं कर दिया जाता तब तक उसका नाम प्रेत ही रहता है, भस्म हो जाने के बाद प्रेतसंज्ञा समाप्त हो गई और अब उस मरे हुये पुरुष को भूत (बीता हुआ) कहने लगते हैं, क्योंकि वर्तमान में उसकी कोई सत्ता बाक़ी नहीं रहती, इसके सिवा भूतप्रेतयोनिआदि के विचार भ्रममूलक हैं।

(इन प्रकार प्रश्नों का उत्तर देने के बाद ऋषि ने अपना व्याख्यान समाप्त करने के लिये अन्तिम शब्द कहना प्रारंभ किये)

आत्मवेत्ता-मरने के बाद जो तीन गति होती हैं उन में से पहिली गति आवागमन के चक्र में रहना है, अर्थात् मर कर किसी न किसी योनि को, अपने कर्मानुसार प्राप्त करना। प्राणी एक शरीर को छोड़ कर तत्काल दूसरी योनि में चला जाता है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। आगामी संघ में शेष गतियों का व्याख्यान किया जायगा, आज का संघ यहीं समाप्त होता है।